Chapter-9

अध्याय 9

हिन्दी के प्रचार-प्रसार में फिल्मों की भूमिका

- हिन्दी के प्रचार-प्रसार में फिल्मों की भूमिका
  - हिन्दी फिल्मों का विकास-क्रम
  - हिन्दी फिल्मों में प्रयुक्त भाषा
  - हिन्दी फिल्म पत्रकारिता : प्रवृति एवम् विकास

अध्याय 9

हिन्दी के प्रचार-प्रसार में फिल्मों की भूमिका

(क) हिन्दी फिल्मों का विकास-क्रम

सिनेमा जनसंचार का एक सशक्त माद्यम है। भारत में सिनेमा का श्रीगणेश दादासाहब फालके द्वारा निर्मित 'राजा हरिश्चन्द्र' फिल्म के प्रदर्शन के साथ हुआ। इस फिल्म का प्रदर्शन 17 मई 1913 को बम्बई में हुआ। 'राजा हरिश्चन्द्र' को हिन्दी भाषा की भी प्रथम फिल्म होने का गौरव प्राप्त है। इसका प्रमाण यह है कि इस फिल्म में कथा विकास दर्शाने के लिए 'हिन्दी टाइटल्स' का प्रयोग किया गया था। साथ में अंग्रेजी अनुवाद भी किया गया था। मराठी भाषा होते हुए भी दादा साहब फालके ने महात्मा गांधी की भांति हिन्दी भाषा के राष्ट्रव्यापी स्वरूप को पहचान लिया था और उसी को उन्होंने अपनी इस प्रथम मूक फिल्म को समझाने का माध्यम स्वीकार किया था। सन् 1917 तक इस क्षेत्र में दादा फालके ही एकमात्र निर्माता थे। इस समय तक उन्होंने 23 फिल्मों का निर्माण किया था, जिसमें 'भस्मासुर मोहिनी', 'सत्यवान सावित्री' और 'लंकादहन' आदि फिल्में विशेष लोकप्रिय सिद्ध हुई। उनकी फिल्मों का कथानक मुख्यतः पौराणिक रहा।

पहली बोलती फिल्म आई 1931 में। यह थी आर्देशिर इरानी की फिल्म 'आलमआरा'। इस फिल्म में संस्कृत निष्ठ हिन्दी तथा फारसी निष्ठ उर्दू भाषा का प्रयोग किया गया था। इसी वर्ष 24 अन्य हिन्दी फिल्में भी प्रदर्शित हुईं। बोलती

फिल्मों के आने से फिल्म उद्योग में क्रांतिकारी परिवर्तन होने लगे। लेखक, संगीत निर्देशक और गायक अभिनेता बोलती फिल्म के मुख्य स्तम्भ बन गए। सन् 1932 में दो संस्थाएं बनीं। एक थी प्रभात फिल्म कम्पनी, कोल्हापुर जिसने वी. शांताराम के निर्देशन में हिन्दी और मराठी में 'अयोध्या का राजा' फिल्म बनाई। हालांकि इस कम्पनी ने अपनी पहली बोलती फिल्म के लिए वही पुरानी हरिशचन्द्र की कहानी ली थी, जिस पर साल भर पहले दो बोलती फिल्म बन चुकी थी, लेकिन प्रभात की इस फिल्म में शैली संगीत और अभिनय इतना बढ़िया था कि वह बेहद सफल हुई। दूसरी थी न्यू थियेटर्स लि., जिसकी स्थापना बी.एन. सरकार ने की। इसकी पहली फिल्म थी मुहब्बत के आंसू, जिसमें बेगम अख्तर के साथ सैगल कशमीरी (जो बाद में के. एल. सैगल के नाम से प्रख्यात हुए) ने अभिनय किया था। लेकिन इस वर्ष की दर्शकों को सर्वाधिक आकर्षित करने वाली फिल्म थी 'श्याम सुन्दर' जो भालजी पेंढ़ारकर के निर्देशन में पूना की कम्पनी सरस्वती सिनेटोन ने बनाई थी। 'इन्दर सभा' फिल्म में 71 गाने थे जो आज तक किसी एक फिल्म में सर्वाधिक गानों का रिकॉर्ड है। कुछ कम्पनियों ने अपनी मूक फिल्मों का बोलती फिल्मों में पुनः र्निमाण किया।

1933 मे वी.शान्ताराम के निर्देशन में रंगीन फिल्म 'सैरन्ध्री' हिन्दी और मराठी में बनी किन्तु भव्य सैटों और सजावट के बावजूद फिल्म पिट गई। इसी प्रकार हिमांशु राय की फिल्म 'कर्म' भी खास सफल नहीं हुई। इस साल की कुछ सफल फिल्में थी चार दरवेश, डाकू की लड़की, मिस 1933, हातिमताई, आवारा, शहजादा आदि। सबसे अधिक सफल रही न्यू थियेटर्स की देवकी बोस द्वारा निर्देशित 'पूरण भगत'। 1934 में विजय भट्ट और शंकर भट्ट ने प्रकाश पिक्चर्स की स्थापना की और सामयिक सामाजिक विषयों पर फिल्म बनाई। अजंता मूवीटोन ने अपनी फिल्म 'मजदूर' की कहानी लिखने के लिए प्रसिद्ध कथाकार प्रेमचन्द्र को अनुबन्धित किया। मजदूरों के शोषण के यथार्थ चित्रण के कारण इस फिल्म को सेंसर में बड़ी कठिनाई का सामना करना पडा। बाद में इसे प्रतिबंधित फिल्मके रूप में प्रचारित किया गया।

महालक्ष्मी सिनेटोन ने प्रेमचन्द्र के ही उपन्यास पर सेवा सदन फिल्म बनाई। लेकिन प्रेमचन्द्र अपनी कहानी के इस फिल्मी रूपान्तर से खुश नहीं थे और उन्होंने फिल्म जगत को ही छोड़ दिया। 1934 में वी. शान्ताराम के निर्देशन में बनी 'अमृत मंथन' और देवकी बोस के निर्देशन में बनी 'सीता' को क्रमशः वियना और वेनिस की प्रदर्शनी में भी भेजा गया/अस्पृष्यता की समस्या पर प्रसिद्ध फिल्म 'चण्डीदास' जिसका निर्देशन नितिन बोस ने किया था, भी 1934 में ही बनी।

अब तक बोलती फिल्मों के निर्माण की तकनीक में कुशलता पा ली गई थी, इसलिए फिल्म निर्माण सस्ता और आसान हो गया था। फलतः फिल्म निर्माण में समय कम लगने लगा। 1935 में शरदबाबू के उपन्यास पर 'देवदास' का निर्माण हुआ जो हिन्दी फिल्मों के इतिहास मे मील का पत्थर सिद्ध हुआ। इसके गाने जल्दी ही पूरे भारत में लोकप्रिय हो गए थे। इसी वर्ष एक और महत्वपूर्ण फिल्म आई 'इंकलाब', जिसका निर्देशन देवकी बोस ने किया था और जिंसमें राजकपूर पहली बार परदे पर आए थे। पार्श्वगायन का पहली बार प्रयोग आर.पी.बोराल ने 'धूप छांव' में किया था। 1935 में हिमांशु राय ने बॉम्बे टाकीज की स्थापना की। इसकी पहली फिल्म थी 'जवानी की हवा' और इसमें भारत की पहली महिला संगीत निर्देशिका सरस्वती देवी ने संगीत दिया। सोहराब मोदीजो अपनी भारी भरकम आवाज व शरीर से रंगमंच पर छाए हुए थे, ने अपने बड़े भाई रुस्तम के साथ एक फिल्म कम्पनी बनाई और लोकप्रिय नाटक 'हैमलैट' का फिल्म संस्करण तैयार किया। नसीम पहली बार इसी फिल्म से परदे पर आई। इसी वर्ष तैयार हुई मास्टर विनायक की फिल्म 'निगाहें', 'नफरत' और कन्हैयालाल मुंशी की कहानी पर सागर की फिल्म 'डॉ. मधुरिका'।

1936 में भी भारतीय फिल्मकारों की रचनात्मकता में विकास और वृद्धि होती रही। आर्देशिर इरानी ने 'किसान कन्या' और 'मदर इण्डिया' दो रंगीन फिल्म बनाईं। दादासाहब फालके की अंतिम फिल्म 'गंगावतरण' 1937 में बनी। 'स्ट्रीट सिंगर' 1938 की महत्वपूर्ण फिल्म है। इसके संगीत निर्देशक थे आर.सी.बोराल और जिसके

गीत 'बाबुल मोरा नैहर छूटो जाए' ने काफी लोकप्रियता अर्जित की। 1939 में भारतीय फिल्म की रजतजयंती मनाई गई। इस रजत जयंती वर्ष में कुछ ऐसी फिल्में आई जो सिनेमा के इतिहास में महत्वपूर्ण बन गई। शांताराम निर्देशित 'आदमी', न्यू थियेटर्स की शरद बाबू के उपन्यास पर बनी 'बड़ी दीदी' व बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के उपन्यास पर 'कपाल कुण्डला', सोहराब मोदी की 'पुकार', बॉम्बे टॉकेज की 'कंगन' और सागर मूवीटोन की महबूब निर्देशित 'एक ही रास्ता' ने हिन्दी फिल्मों को नई दिशा दी। गाँधीजी के हरिजन उद्धार अभियान से प्रभावित फिल्म अछूत का निर्माण चन्दूलाल शाह ने 1940 में किया। महबूब की प्रसिद्ध फिल्म 'औरत' (जिसमें उन्होंने 'मदर इण्डिया' के नाम से फिर से बनाया) भी इस सालं बनी। सोहराब मोदी की दूसरी ऐतिहासिंक फिल्म 'सिकन्दर'को भी अच्छी सफलता मिली। केदार शर्मा ने भगवती चरण वर्मा के उपन्यास पर 'चित्रलेखा' और मराठी के प्रसिद्ध लेखक पी. के अत्रे ने 'चरणों की दासी' बनाई। भारतभूषण अभिनीत 'भक्त कबीर' और के.एल. सैगल अभिनीत 'भक्त सूरदास' साम्प्रदायिक सद्भाव पर आधारित ती। अभिनय चक्रवर्ती निर्देशित बॉम्बे टाकीज की 'बसंत' ने हीरक जयंती मनाई। इसके गीत इतने लोकप्रिय हुए कि इसके संगीतकार पन्ना लाल घोष भी पूरे भारत में प्रसिद्ध हो गए। इस फिल्म में मधुबाला पहली बार परदे पर आई। महबूब की 'रोटी' प्रगतिशील विचारधारा पर और देवकी बोस की 'अपना घर' गांधी जी के अहिंसक लड़ाई के सिद्धांत पर आधारित थी। विजय भट्ट ने 'भरत-मिलाप' बनाकर पौराणिक फिल्मों की नई लहर को जन्म दिया। 'शारदा', 'खानदान', 'कुंआरा' बाप सफल फिल्में रहीं।

द्वितीय विश्व युद्ध का प्रभाव फिल्म उद्योग पर भी पड़ा। कच्ची फिल्मों की कमी पड़ने लगी। जिसके लिए भारत विदेशी आयात पर निर्भर था। असहयोग नीति का फिल्म निर्माताओं ने भी अनुसरण किया। राष्ट्रवादी गीत, राष्ट्रीय नेताओं के चित्र और गाँधी जी का उल्लेख फिल्म में करने लगे। प्रतिबन्ध के कारण हल्की फुल्की मनोरंजन

प्रधान फिल्मों का चलन बढ़ा। हालांकि इन फिल्मों में भी परोक्ष रूप से गीत-संवादों में राष्ट्रीय भावनाएं बड़ी चतुराई से पिरोई जाने लगी। किस्मत, शकुन्तला और रामराज्य ऐसी तीन फिल्में थी जो 1943 में बेहद सफल हुई। बॉम्बे टाकीज के लिए एस. मुखर्जी द्वारा निर्मित 'किस्मत' कलकत्ता में लगातार तीन साल और आठ महीने चली। इसमें अनिल विश्वास का संगीत था। इस फिल्म का गीत 'दूर हटो ए दुनिया वालो हिन्दुस्तान हमारा है' देशभक्ति के संदेश के रूप में बहुत लोकप्रिय हुआ। इसका 'दूर हटो' आह्वान गांधीजी के भारत छोड़ो आन्दोलन का समानार्थी समझा जाने लगा था। युद्ध के अन्तिम वर्ष 1945 में भी संगीत प्रधान रोमांटिक मेलोड्रामा और छद्म ऐतिहासिक फिल्में बनती रही। इस साल बनी कुल 99 फिल्मों में 74 हिन्दी फिल्में थी। इसी साल न्यू थियेटर्स की अंतिम फिल्म 'हमराही' बनी। इसी फिल्म से बिमल राय जैसे कुशल फिल्मकार का उदय हुआ। इसी फिल्म में रविन्द्रनाथ ठाकुर के गीत 'जन गण मन' का उपयोग किया गया था जो स्वतंत्र भारत में राष्ट्रगान के रूप में स्वीकार किया गया। इसी दौरान दिलीप कुमार, राजकपूर, देवआनन्द, नरगिस, कामिनी कौशल, सुरैया, निरुपारॉय जैसे अभिनेता-अभिनेत्रियाँ प्रसिद्धि की ओर अग्रसर हुए। अनमोल घड़ी, मिलन, शाहजहाँ जैसी लोकप्रिय फिल्में इसी समय आईं। युद्ध के समाप्त होते ही सारे नियंत्रण समाप्त हो गए,और फिल्म निर्माण में दुगनी वृद्धि हो गई। बंगाल के अकाल की पृष्ठभूमि पर ख्वाजा अहमद अब्बास की फिल्म 'धरती के लाल', 'चेतन आनन्द की फिल्म 'नीचा नगर', और शांताराम की फिल्म 'डॉ. कोटनिस की अमर कहानी' ने भारतीय फिल्मों को विश्व फिल्म मंच पर प्रवेश दिलाने का काम किया।

भारत को आजादी मिलते ही स्थितियों मे भारी बदलाव आया। हर प्रकार के कला-कौशल में पुनर्जागरण और विकास आरम्भ हुआ। उस साल बनी कुल 283 फिल्मों में 182 हिन्दी फिल्में थी परन्तु बॉक्स ऑफिस पर सफलता की दृष्टि से कुछ फिल्में ही सफल हुई। किशोर साहू के निर्देशन में फिल्मीस्तान की 'सिन्दूर' सफलतम

फिल्म थी, जिसमें विधवा की दुर्दशा दिखाते हुए उसके पुनर्विवाह की बात उठाई गई थी। इसी साल संतोषी के निर्देशन में बनी 'शहनाई' हल्की फुल्की पलायनवादी मनोरंजन फिल्म थी। जिसमें सी. रामचन्द्र का संगीत था। इस फिल्म की शैली और संगीत ने लगभग अगले दो दशकों तक फिल्मों को प्रभावित किया। इसी वर्ष दक्षिण भरतीय फिल्मी 'मीरा' का हिन्दी संस्करण बना जिसमें प्रसिद्ध गायिका एम.एस. सुब्बुलक्ष्मी ने अभिनय किया था।

जैमिनी स्टूडियो की स्थापना 1940 में एस.एस. वासन ने मद्रास में की थी। इसी जैमिनी स्टूडियो ने 1948 में अपनी एक तमिल फिल्म 'चन्द्रलेखा' हिन्दी में प्रस्तुत की। इस फिल्म की अपार सफलता के फलस्वरूप मद्रास में हिन्दी फिल्मों के निर्माण की श्रंखला स्थापित हुई जो आज भी बनी हुई है। इसी वर्ष युवा राजकपूर ने 'आग' का निर्माण करके निर्माता-निर्देशक-अभिनेता के रूप में अपनी भावी सफलता का पहला चरण रखा। कलकत्ता में शरद बाबू के उपन्यास पथेरदावी पर हिन्दी बंगाली में 'सव्यसाची' का निर्माण हुआ। फिल्मीस्तान ने 'शहीद' नाम की फिल्म बनाई, जिसका गीत 'वतन की राह पर वतन के नौजवां शहीदं हो' काफी लोकप्रिय हुआ। बाम्बे टाकीज की फिल्म 'मजबूर' से पार्श्व गायिका लता मंगेशकर का उदय हुआ। अगले साल राजकपूर की फिल्म 'बरसात' रिलीज़ हुई जिससे गीतकार हसरत जयपुरी और संगीतकार शंकर जयकिशन चमके। कमाल अमरोही की फिल्म 'महल' से रहस्य और सनसनी भरी फिल्मों की शुरुआत हुई। वी. शांताराम की 'अपना देश' ने समाज विरोधी तत्वों का पर्दाफाश किया। 1950 में उन्होंने 'दहेज' फिल्म बनाकर भारतीय समाज के इस कोढ़ का मार्मिक चित्रण किया। देव आनन्द की निर्माण संस्था नवकेतन का भी आरम्भ 'अफसर' फिल्म के साथ इसी वर्ष हुआ।

अब तक विदेशी फिल्मों की भौंडी नकल आरम्भ हो चुकी थी। फार्मूला फिल्में अपनी जड़ें जमा चुकी थी। ऐसी फिल्मों की भीड़ में जब राजकपूर 1951 में 'आवारा' लेकर आए तो वह फिल्म अपनी कथा के समाजवादी संदेश और फिल्मांकन की नई

शैली के कारण बहुत पसंद की गई। गुरुदत्त ने देव आनन्द की बाजी से अपने निर्देशन की शुरुआत की। ए.बी.एम. की बहार, जैमिनी की संसार, भगवान की 'अलबेला' उस साल की कुछ सफल फिल्में थीं। 1952 में महबूब की 'आज' और 'बैजू बावरा' सफल फिल्में थीं। इसके अलावा फिल्मीस्तान की 'आनंद मठ' और जैमिनी की 'मि. सम्पत' भी चर्चित रहीं। विमल रॉय 1953 में 'दो बीघा जमीन' लेकर आए, जिसने सिने दर्शकों पर अद्‌भुत प्रभाव डाला। अमिय चक्रवर्ती की 'पतिता', राजकपूर की 'आह', शांताराम की 'तीन बत्ती चार रास्ता' और सोहराब मोदी की 'झांसी की रानी' भी इसी वर्ष की फिल्में थीं। 1954 में गुरुदत्त 'आर-पार' के साथ निर्माता भी बन गए, जिसमें ओ.पी.नैयर का संगीत बहुत लोकप्रिय हुआ। चेतन और देव आनन्द की 'टैक्सी ड्राइवर', मोहन सहगल की 'औलाद', विमल राय की 'बिराज बहू' को अच्छी सफलता मिली। सोहबराय मोदी की फिल्म 'मिर्जा गालिब' राष्ट्रपति का स्वर्णपदक पाने वाली पहली फिल्म थी। सत्यजीत राय ने 1955 में 'पाथेर पांचाली' के साथ भारतीय फिल्मों को नई यथार्थवादी शैली को जन्म दिया। दूसरी तरफ रंगभरी कल्पनाएं चित्रित करती फिल्में थी वी.शांताराम की 'झनक झनक बाजे पायल', राजकपूर की 'श्री 420', गुरुदत्त की 'मि. एण्ड मिसेज 55', विमल रॉय की 'नौकरी', सत्येन बोस की 'बंदिश' और 'जागृति', अमिय चक्रवर्ती की 'सीमा'।

1956 में बोलती फिल्मों की रजत जयंती मनाई गई। विमल रॉय की दिलीप कुमार अभिनीत 'देवदास', राजकपूर की 'जागते रहो', सत्यजीत रॉय की 'अपराजिता' चर्चित रहीं। गुरुदत्त ने 1957 में 'प्यासा' जैसे मार्मिक फिल्म बनाकर दर्शकों को चकित कर दिया। जेल सुधार पर वी. शांताराम की फिल्म 'दो आंखें बारह हाथ' को अनेक देसी-विदेशी पुरस्कार मिले। इसी साल भारत-रूस के सहयोग से अब्बास की 'परदेसी' बनी। ए.बी.एम. की 'हम पंछी एक डाल के' को राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हुआ। बी. आर. चोपड़ा की 'नया दौर', प्रसाद की 'शारदा', मेहबूब की 'मदर इण्डिया', देवानंद की 'नौ दो ग्यारह', 'पेइंग गेस्ट' और शम्मीकपूर अभिनीत 'तुम

सा नहीं देखी' फिल्मों ने अगले एक दशक तक की फिल्मों को प्रभावित किया। 1958 में बी.आर चोपड़ा की 'साधना' और शाहिद लतीफ निर्देशित 'सोने की चिड़िया' फिल्में ही प्रभावित कर सकी। 1959 में बनी 'नवरंग' वी. शांताराम की अलग शैली की फिल्म थी। गुरुदत्त की फिल्म 'कागज के फूल' को सफलता न मिलने के बावजूद समीक्षक वर्ग में सराहा गया। यह पहली भारतीय सिनेमास्कोप फिल्म थी। विमल रॉय की 'सुजाता', तथा 'धूल का फूल',.'चिराग कहां रोशनी कहां', 'अनाड़ी', 'दिल देके देखो' सफल फिल्में रही।

साठ के दशक के प्रारम्भ में 'मुगले आजम' का प्रदर्शन फिल्म उद्योग की एक बहुत बड़ी घटना थी। इस फिल्म ने लोकप्रियता की चरम सीमा को छूआ। लेकिन राष्ट्रपति का स्वर्ण पदक मिला ऋषिकेष मुखर्जी की फिल्म 'अनुराधा' को, जो सादगी के बावजूद एक मर्मस्पर्शी फिल्म थी। 1961 में हिन्दी में डाकूओं को लेकर बनी दो फिल्में सफल हुई - दिलीपकुमार की 'गंगा-जमना' और राजकपूर की 'जिस देश में गंगा बहती है।' इसी साल सुबोध मुखर्जी ने शम्मीकपूर को लेकर 'जंगली' का निर्माण ईस्टमनकलर में किया और इसी के साथ रंगीन-फिल्मों की वर्तमान लहर का प्रारम्भ हुआ। बी.आर. चोपड़ा की बिना गीतों की फिल्म 'कानून' में कोर्ट ड्रामा पहली बार प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया। शांताराम की बाल फिल्म 'फूल और कलियां' को इस वर्ष प्रधानमंत्री का स्वर्णपदक प्राप्त हुआ। 1962 में गुरुदत्त 'साहब बीबी और गुलाम' लेकर आए। रहस्य-अपराध कथा 'बीस साल बाद' अपने ढंग की नई फिल्म थी। इसी साल दारासिंह को लेकर स्टंट फिल्में भी बननी शुरु हुई। उसके अगले वर्ष सुनील दत्त की फिल्म 'मुझे जीने दो' की सफलता ने कई वर्षो तक डाकूओं पर आधारित फिल्मों को प्रेरणा दी।

1965 में देवआनन्द की फिल्म 'गाइड' विशेष उल्लेखनीय थी। गीतकार शैलेन्द्र द्वारा निर्मित 'तीसरी कसम' को 1966 का राष्ट्रपति का स्वर्ण पदक मिला। ऋषिकेश मुखर्जी की 'अनुपमा' और चेतनानन्द की 'आख़री खत' भी उल्लेखनीय रहीं।

1967 में मनोजकुमार की 'उपकार' काफी सफल रही। साठ के दशक के समाप्त होते-होते हिन्दी में एक नई लहर समानन्तर फिल्मों की आई। कम खर्च में जीवन के यथार्थ को पकड़ने वाली इन फिल्मों की लहर में पहली फिल्म थी मृणालसेन की 'भुवन शोम' जिसे अच्छी ख्याति मिली। इसे राष्ट्रपति का स्वर्ण पदक भी मिला। समानन्तर फिल्मों की लहर में आज तक बनी हुई है। फिल्म वित्त निगम ने इन फिल्मों को सुदृढ़ आर्थिक सहयोग दिया है।

पिछले तीन दशकों में भारतीय सिनेमा का बेहत विस्तार हुआ। इस बीच बड़ी लागत की व्यवासायिक फिल्मों और छोटे बजट की कला सापेक्ष फिल्मों के बीच सुरुचि सम्पन्न मनोरंजक फिल्मों की नई धारा बही जिसमें योगदान दिया ऋषिकेश मुखर्जी, गुलजार, बासु चटर्जी, बासु भट्टाचार्य आदि ने। बड़े बजट की फिल्मों में धर्मेन्द्र, शशि, संजीव कुमार, राजेश खन्ना, अमिताभ बच्चन, जितेन्द्र, अनिल कपूर, शाहरुख खान, आमिर खान, सलमान खान, हेमामालिनी, रेखा, जीनत, काजोल, माधुरी दीक्षित आदि चमके तो कम बजट की फिल्मों ने नसरुद्दीन शाह, फारुखशेख, शबाना आजमी, स्मिता पाटिल, ओमपुरी, ओम शिवपुरी, जैसे कलाकारों को स्थापित किया। आज भारत में टी.वी. और वीडियो क्रांति ने हालांकि सिनेमा के कई दर्शक छीन लिए हैं लेकिन 'हम आपके हैं कौन', 'दिल वाले दुल्हनिया ले जाएंगे', 'राजा हिन्दुस्तानी', 'दिल तो पागल है', 'कुछ कुछ होता है' आदि की अपार सफलता ने हिन्दी फिल्मों का उज्ज्वल भविष्य फिर से सुनिश्चित कर दिया है।

(ख) हिन्दी फिल्मों में प्रयुक्त भाषा

हिन्दी फिल्मों की भाषा मुख्यतः संवादों के माध्यम से प्रकट होती है। संवाद जितने सशक्त और जनभाषा में होंगे, उतना ही अधिक प्रभाव दर्शकों पर पड़ेगा।हिन्दी फिल्मों के संवादों ने जनसाधारण की भाषा को अधिक प्रभावित किया है या जनसाधारण की भाषा ने हिन्दी फिल्मों की भाषा को अधिक प्रभावित किया है, यह विवाद का विषय हो सकता है किन्तु हिन्दी के जनभाषा के रूप में स्थापित होने में

फिल्मों की भूमिका काफी महत्वपूर्ण रही है, यह सत्य निर्विवाद है। संवाद, सिनेमाई भाषा का अटूट हिस्सा न होता तो हमें सवाक् फिल्मों की आवश्यकता ही न पड़ती। दरअसल 'संव ाद' नाट्य विधा के अंग के रूप में उभरा और इस दृश्य श्रव्य माध्यम में सशक्त अभिव्यक्ति के रूप में स्थापित होता चला गया। आज का हमारा सिने-दर्शक अवचेतन में इस नाट्यजगत् से प्रभावित होकर तैयार हुआ है। जब सिनेमा मूक अवस्था में था तो सिने दर्शक प्रहसनों एवम् नाटकों की परम्परा से प्रशिक्षित हो चुका था। अतः जब तक सवाक सिनेमा नहीं आया तब तक वह उपलब्ध कराए जा रहे साधनों (जैसे शीर्षक-कार्ड्स/उद्घोषणा) के माध्यमों से ही संवादों का रसास्वादन कर रहा था। चूंकि हिन्दी नाटकों के संवादों की भाषा संस्कृत से मांस मज्जा लेकर तैयार हुई, उसमें तत्सम शब्दों का समावेश रहा और भाषा शुद्ध वैष्णव आचरण लिए हुए भी पनपती रही। परन्तु हिन्दी नाटकों के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रयास किया कि हिन्दी नाटकों की भाषा विषयानुसार संस्कृत, उर्दू और देशज शब्दों के प्रयोग से आगे बढ़े जबकि उनके परवर्ती नाटककार जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों की भाषा को संस्कृतनिष्ठ रखा। किन्तु इनके बाद आने वाले नाटककारों (पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, गोविन्द वल्लभपंत, डॉ. रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, वृंदावनलाल वर्मा, मोहन राकेश आदि ने शहरी खड़ी बोली का रूप अपनाया।

'भारतेन्दु काल में अभी खड़ी बोली हिन्दी का रूप अपने गठन को प्राप्त होने की प्रक्रिया में था। परन्तु उन्होंने जिस प्रकार अपने नाटकों में संवादों का प्रयोग किया उसे देखते हुए लगता है कि उन्होंने चाक्षुक भाषा के लिए एक ऐसी राह का सूत्रपात किया जिसने आगे चलकर दृश्य माध्यमों की भाषा के गठन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ...उनमें साहित्यिकता होने के कारण वे उन व्यावसायिक नाटक कम्पनियों द्वारा नहीं खेले गए जो पारसी नाटकों को बड़े चाव से खेलती थी।[1] भारतेन्दु ने अपने

1. पारसी हिन्दी रंगमंच - लेखक डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, पृ. 44 (राजपाल एण्ड संस)

नाटकों में मिश्रित भाषा का प्रयोग किया। वह अपने आपमें एक महत्वपूर्ण बात थी क्योंकि उनके समय में समाज का एक खास वर्ग संस्कृत की तत्सम शब्दावली को मूलाधार बनाकर लेखन करने के पक्ष में था। दूसरी ओर पारसी-हिन्दी रंगमंच भी उर्दू मिश्रित भाषा का प्रयोग कर रहा था। ऐसी स्थिति में पात्रानुसार-भाषा के सिद्धान्त को मानने वाले भारतेन्दु ने अपने नाटकों में जहाँ उर्दू-संस्कृत शब्द लिए वहाँ तत्सम, ब्रज आदि के शब्द लेकर एक मिश्रित भाषा की रचना की। यही भाषा आगे चलकर खड़ी बोली के रूप में हमारे सामने आई। हिन्दी सिनेमा भी आज इसी प्रकार के मिश्रित भाषा के सिद्धान्त को लेकर चल रहा है। हालांकि हिन्दी सिनेमा में प्रयुक्त भाषा खड़ी बोली हिन्दी तथा उर्दू का मिश्रित रूप लेकर हिन्दुस्तानी के रूप में पनपी, यही भाषा आज के हिन्दी सिनेमा के संवादों की भाषा के रूप में प्रयुक्त हो रही है।

हिन्दी सिनेमा को समृद्ध करने में शुरु से ही नाटक क्षेत्र का जबरदस्त योगदान रहा है। जहाँ तक हिन्दी फिल्मों को संवाद की प्रारंभिक भाषा देने का प्रश्न है पारसी-हिन्दी थियेटर ने विशेष भूमिका निभाई है। थियेटर कम्पनियों ने जनता की भाषा (अधिकतर हिन्दी/हिन्दुस्तानी) में अपनी प्रस्तुतियां की ताकि जनता से सटीक संवाद स्थापित हो सके। यही कारण था कि पारसी-हिन्दी नाटकों को देखने के लिए जनता उमड़ पड़ती थी । भारतीय सिनेमा (मूक और सवाक) के आरम्भ बिन्दुओं (राजा हरिश्चन्द्र (मूक) और आलमआरा) की प्रेरणा के आधार पारसी शैली के नाटक थे। अतः नाटकों में प्रचलित संवादों की भाषा का प्रभाव इन फिल्मों पर पड़ा। जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों के लिए हालांकि रंगमंच का विधान पारसी थियेटर से लिया था किन्तु उनकी भाषा एक पारसी थियेटर के अनुरूप नहीं थी। उनकी भाषा शुद्ध साहित्यकार की भाषा थी और संस्कृतनिष्ठ होने के कारण जनभाषा से दूर थी अतः हिन्दी सिनेमा के संवाद की भाषा को प्रसाद के नाटकों की भाषा ने प्रभावित नहीं किया। इसके विपरीत पारसी रंगमंच के नाटककारों ने जिस भाषा का प्रयोग अपने नाटकों में किया वह सैद्धांतिक रूप से आज भी आम हिन्दी सिनेमा के संवादों

में पाई जाती है। वास्तव में इस रंगमंच की भाषाई नीति व्यावसायिकता पर टिकी थी अर्थात उनका मानना था कि भाषा ऐसी हो जो सबकी समझ में आ जाए। जो इस नीति के विपरीत गया वह सफल नहीं हो पाया।

वस्तुतः बीसवीं सदी के प्रथम दशक में पारसी थियेटर में पारसी, मुसलमान, मराठी, गुजराती, मारवाड़ी, उत्तरभारत के रंगकर्मी जुड़ गए थे और उन्होंने मिली जुली संस्कृति की मिली जुली भाषा को जन्म दिया था और यह भाषा इतनी लोकप्रिय रही कि गुजराती, मराठी और मारवाड़ी रंगकर्मी अपनी-अपनी भाषा को छोड़कर इसमें काम करने के लिए हिन्दी भाषा सीखने को तत्पर हुए।[1] ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' को पढ़ने के लिए गैर हिन्दी भाषियों ने हिन्दी सीखी। आज यही रूप हम हिन्दी फिल्म जगत का देखते हैं। इसमें पंजाबी, मुसलमान, गुजराती, सिंधी, मराठी, आदि सब मिलकर कार्य करते हैं और ठीक उसी प्रकार की मिश्रित हिन्दी भाषा का प्रयोग कर रहे हैं जो कभी पारसी-हिन्दी रंगमंच की प्रकृति में रही। आम जनता न शुद्ध हिन्दी चाहती थी न शुद्ध उर्दू, वह तो इस प्रकार की भाषा चाहती थी जो वह समझ सके-इस रहस्य को राधेश्याम कथावाचक और नारायण प्रसाद 'बेताब' ऐसे रंगकर्मियों ने अपने बखूबी पकड़ा। उदाहरण के लिए 'बेताब' का सूत्रधार (महाभारत नाटक में) कहता है: 'न ठेक हिन्दी, न खालिस उर्दू, जबान गोया मिली जुली हो, अलग रहे दूध से न मिश्री, डली-डली दूध में धुली हो।[2]

श्री मोतीलाल नेहरू एवम् पं. मदनमोहन मालवीय इसी प्रकार की भाषा के समर्थक थे अतः ने पारसी-हिन्दी रंगमंच के नाटक बड़े चाव से देखते थे। इन नाटकों के संवाद इतने लोकप्रिय होते थे कि अभिनेता के आधा संवाद बोलने पर आधा संवाद दर्शक अपनी ओर बिल्कुल सही रूप में बोलकर पूरा करते थे। ठीक उसी प्रकार जैसे 'शोले' फिल्म के संवादों की भारी सफलता ने इस फिल्म के संवादों के

1. पारसी हिन्दी रंगमंच - पृ. 29 - डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल
2. पारसी हिन्दी रंगमंच - पृ. 104 - डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल

लगभग 5 लाख एल.पी. तैयार करवा दिए थे। वस्तुतः पारसी हिन्दी रंगमंच की भाषा की सरलता, नाटकीयता और मुहावरों के साथ उसके प्रयोग ने संवाद-शैली को इतना लोकप्रिय बनाया।

सन् 1948 में बम्बई के प्रगतिशील रंगकर्मियों की सहायता से भारतीय जननाट्य संघ (इप्टा) की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य पारसी-हिन्दी रंगमंच की कोरी भावुकता और व्यावसायिकता से मुक्त रहकर जनचेतना को जागृत करना था। इस संघ ने अपने नाटकों द्वारा स्वदेशी आन्दोलन-किसान-मजदूर आन्दोलन को उजागर किया। इस नाट्य आन्दोलन की कई हस्तियां फिल्मों से जुड़ी रही जैसे उत्पलदत्त, ख़्वाजा अहमद अब्बास, बलराज साहनी, चेतन आनन्द, दुर्गा खोटे, सलील चौधरी आदि। इनमें से बलराज साहनी ने शांतिनिकेतन में अध्यापन कार्य करते समय हिन्दी नाटक का मंचन किया और बी.बी.सी. में सेवाकाल के दौरान कई हिन्दी नाटकों का प्रसारण भी करवाया। आगे चलकर उन्होंने गुरुदत्त की फिल्म 'बाजी' के लिए पटकथा और संवाद भी लिखे। इसी प्रकार ख्वाजा अहमद अब्बास जिनके लेखन की आभा से राजकपूर का सिने-व्यक्तित्व चमकता रहा, इप्टा की सशक्त कड़ी रहे। उनके लिखे नाटकों ने न केवल इस संघ (इप्टा) के आन्दोलनों को दिशा दी वरन् इसके द्वारा प्रस्तुत और किसानों की दुर्दशा पर बनी यथार्थवादी फिल्म 'धरती के लाल' ने सिने जगत के इतिहास में अपना स्थान बनाया। इस फिल्म के संवाद स्वयं अब्बास ने लिखे थे। उनकी ही भांति चेतन आनंद ने भी अपनी फिल्म 'नीचा नगर' में संवाद स्वयं लिखे।

इप्टा के गठन के लगभग दो वर्ष बार 15 जनवरी 1944 को बम्बई में एक और नाट्य संस्था का जन्म हुआ। इसने भी फिल्मी जगत को बड़ी-बड़ी हस्तियाँ दी। यह था पृथ्वीराज कपूर का 'पृथ्वी थियेटर'। पृथ्वीराज कपूर ने फिल्म जगत में ख्याति अर्जित करने के बाद इस नाट्य संस्था की स्थापना की। यह संस्था कई फिल्मी हस्तियों के प्रशिक्षण का स्थल रही। 'फिल्म जगत में 20 प्रतिशत लोग पृथ्वी थियेटर

से आए हैं - पूना संस्थान से पहले पृथ्वी थियेटर ही वह संस्थान था जिसने फिल्म उद्योग को अनूठी प्रतिभा देकर विकसित किया।'[1]

1971 के लिए फिल्म जगत का सर्वोच्च 'दादा साहब फालके' सम्मान पाने वाले पृथ्वीराज कपूर की संस्था के द्वारा मंचित नाटकों की भाषा अधिकतर हिन्दुस्तानी रही। भाषा के मामले में पृथ्वीराज जी काफी सतर्क और गम्भीर थे।

सन् 1954 में इब्राहिम अलकाजी जैसे हस्तियों के सहयोग से 'थियेटर युनिट' का जन्म हुआ जिसके द्वारा कई भाषाओं के सर्वश्रेष्ठ नाटकों के हिन्दी रूपान्तर खेले गए। इनमें सखाराम बाइंडर, शांत रहो कोई चालू है जैसे चर्चित नाटक तो थे ही, साथ ही आधुनिक हिन्दी नाटक को परिपक्वता प्रदान करने वाले और आधुनिक नाटक में हिन्दी भाषा को मांजने और सुगंध भरने वाले चर्चित नाटककार मोहन राकेश के हिन्दी नाटकों को भी इस संस्था ने प्रस्तुत किया। इस युनिट के नाट्यकर्मी ओमशिवपुरी ने राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम के सहयोग से उनके प्रसिद्ध नाटक 'आधे अधूरे' के आधार पर फिल्म बनानी चाही पर वे इस कार्य में असफल रहे। इस यूनिट ने अमोल पालेकर, सुलभा देशपांडे, दीना पाठक जैसे फिल्मी कलाकार भारतीय सिनेमा को दिए । यद्यपि इस युनिट के द्वारा प्रस्तुत हिन्दी नाटक अनुदित होकर आए हों पर उन्होंने हिन्दी फिल्मों की भाषा (संवाद) को भी प्रभावित किया है। वस्तुतः हिन्दी फिल्मों ने नाटक से ही अपनी जुबान तैयार की है और रंगमंच से ही कई हस्तियां फिल्मों में आई हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी फिल्म उद्योग और ऊपर दी गई चारों नाट्य संस्थाओं की ज़न्मस्थली बम्बई रही, अतः वहाँ की भाषा का प्रभाव उस पर होना स्वाभाविक है। बम्बई के हिन्दी फिल्म उद्योग से उर्दू, पंजाबी, गुजराती, मारवाड़ी, सिंधी, मराठी, बंगाली और बाद में दक्षिण के लोग भी येन केन प्रकारेण जुड़े रहे। इसलिए इस उद्योग के बीच चलने वाली भाषा भी मिश्रित रही। यही हाल

1. महानायकों में वटवृक्ष पृथ्वी राज कपूर - जयप्रकाश चौकसे (नई दुनिया फिल्म विशेषांक 1992)

मुम्बई महानगर की जनता का था। स्वाभाविक था कि मुम्बई की एक अलग बोली निखरती। किन्तु बम्बई फिल्म उद्योग यह जानता था कि उसकी फिल्में पूरे भारतवर्ष में जाती हैं अतः उसने हिन्दी भाषा का एक ऐसा फार्मूला निकाला जो सबकी समझ में आ जाए। ठेठ बम्बइया हिन्दी में बनने वाली फिल्में (जैसे चक्र) कम मिलेंगी। ज्यादातर फिल्मों की भाषा ऐसी है जो खड़ी बोली हिन्दी के निकट हो जो दिल्ली-क्षेत्र वालों को भी समझ में आ जाए। देखा जाए तो 'सिनेमाई-संवाद लेखन अपने आपमें एक तकनीक है। सत्यजीत राय का कहना है कि 'स्क्रीन प्ले लिखना साहित्य लेखन की तरह नहीं है।' संवाद में प्रयुक्त भाषाई शब्द को इस प्रकार दृश्य के साथ तालमेल रखकर कार्य करना चाहिए कि वे दृश्य सिनेमाई-भाषा बन जाएं और दर्शक तक दृश्य के संदेश को संप्रेषित करने में कहीं भी आड़े न आएं। कई बार सिनेमाई-संवाद इतने जबरदस्त और सटीक होते हैं कि वह फिल्मों के अन्य घटकों पर छाए रहते हैं और जनता उन्हें कहानी की भांति याद करके दोहराती रहती है। 'शोले' इसकी जीती-जागती मिसाल है। फिल्म के संवादों पर भी फिल्म की सफलता, असफलता निर्भर रहती है। ख्वाजा अहमद अब्बास के अनुसार एक बेहतरीन फिल्म के लिए असरदार संवाद होना जरूरी है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक असफल होती गिरती फिल्म को बढिया ढंग से लिखे गए संवाद बचा लेते हैं और कभी-कभी ऐसा भी होता है कि घटिया ढंग से लिखे गए संवाद (उस) फिल्म की अच्छी चीजों को अपनी दुष्प्रभाव से ढंककर कुप्रभावित करते हैं।'[1]

(ग) फिल्मी संवादों का विश्लेषण

आगे ऐतिहासिक क्रम में कुछ फिल्मों के संवादों का विश्लेषण किया जा रहा है जिसमें मूक सिनेमा युग की फिल्म से लेकर बोलती फिल्मों के संवादों का भाषिक विवेचन किए जाने का प्रयास किया गया है। जब हम मूक सिनेमा की बात करते हैं तो सबसे ऊपर दादा साहब फालके की फिल्म राजा हरिश्चन्द्र (1913) का नाम आता

1. संगीत नाटक अकादमी, फिल्म सेमीनार रिपोर्ट 1955-डॉ. आर. एम. राय द्वारा सम्पादित (पृ.256)

है। इन मूक फिल्मों में संवाद की अभिव्यक्ति के लिए शाब्दिक वाक्य और शीर्षक कार्ड्स की काफी उपयोगिता रही और इनका सिनेमाई भाषा के गठन में महत्वपूर्ण योगदान रहा। राजा हरिश्चन्द्र फिल्म में शीर्षक कार्ड दोनों भाषाओं में हैं ऊपर अंग्रेजी और नीचे हिन्दी। यही क्रम पूरी फिल्म में है। हिन्दी के शीर्षक कार्ड के नमूने निम्नांकित हैं :-

- 'ग्रामीण प्रजा के विनती से हरिश्चन्द्र राजा शिकार को जाते हैं।'
- किन्हीं स्त्रियों की करुणावाणी सुनकर शब्द तरफ राजा का जाना
- तप के बल से विश्वामित्र का जबर्दस्ती त्रिगुणशक्ति का प्राप्त करना
- विश्वामित्र को अत्यन्त कुपित देखकर राजा अपना सब राज्य उसको दान करता है।
- दान की 'साडगता' लाने के लिए राजा का रानी और राजकुमार को राज से बाहर निकाल देना।

  ('साडगता' शब्द मराठी का है जिसका हिन्दी में पूर्ति या प्रतिपूर्ति के अर्थों में है।)
- राजा का रानी को पहचान लेना और धर्मच्युत होने के भय से उसको मुफ्त जलाने की आज्ञा के लिए डोम के पास भेजना।
- ईमानदारी कर्तव्य पालने के लिए रानी का वध करते वक्त शिवजी का साक्षात्कार होना और रोहिताश्व का जीवित होना।
- हरिश्चन्द्र के सत्यपरीक्षा में उत्तीर्ण देखकर वशिष्ठ के सामने मुकुट उसके हाथ में देना।

उपर्युक्त संवादों से स्पष्ट होता है कि इस फिल्म में संस्कृत, मराठी एवम् हिन्दी के साथ उर्दू शब्दों का सहज रूप से समाविष्ट होना हिन्दी सिनेमा के संवाद लेखकों के लिए एक अच्छी राह बन गया और हिन्दी-सिनेमा की भाषा ने सरलता से राह पाई। इस प्रकार की मूक फिल्मों के शीर्षक तैयार करने वाले लेखकों ने जनता की

नव्ज देखकर तथा व्यावसायिक लाभ को ध्यान में रखकर जनता की भाषा का प्रयोग किया।

अन्तिम चरण की मूक फिल्मों पितृ-प्रेम (1929) और दिलेर जिगर (1931) में शीर्षक कार्ड एक साथ चार भाषाओं (अंग्रेजी-गुजराती, हिन्दी और उर्दू) का प्रयोग हुआ है। चार-चार भाषाओं में कार्ड बनाना काफी कष्ट साध्य कार्य रहा होगा। होमीवाडियाजी के अनुसार 'एक साथ चार-चार भाषाओं में कार्ड बनाना काफी मेहनत का काम था। विशेषकर भाषा की शुद्धता और सही अर्थ अभिव्यक्त करने के लिए काफी श्रम करना पड़ता था।'

सवाक् कथा-चलचित्रों के आरम्भिक दौर में 'आलम आरा' (1931) का नाम उल्लेखनीय रहेगा। सन् 1929 में खान बहादुर आर्दोशीर इरानी को सवाक फिल्म बनाने की प्रेरणा विदेशी फिल्म 'स्नो बोट' से मिली। सन् 1929 का समय राजनीतिक घटनाओं का महत्वपूर्ण वर्ष था। 'पूर्ण स्वराज्य' की मांग की जा रही थी और इस बात पर जोर दिया जा रहा था कि हम अपने व्यवहार में स्वदेशी चीजों का प्रयोग करें। भाषा भी उनमें एक थी। महात्मा गांधी जब भारतीय कांग्रेस में आए तब अंग्रेजी के वर्चस्व से काफी दुखी हुए। बाद में उन्होंने हिन्दी-उर्दू मिश्रित भाषा हिन्दुस्तानी पर जोर दिया और उसे भी स्वतंत्रता की लड़ाई का प्रतीक बनाया। गांधीजी के प्रयासों से ही हिन्दी राष्ट्रीय आन्दोलन का एक हथियार बनी और उसे 'राष्ट्रभाषा' के रूप में देखा जाने लगा। आर्देशिर ईरानी के मन में जब सवाक् फिल्म बनाने की प्रेरणा आई तो उन्होंने अपनी फिल्म राष्ट्रभाषा में बनाने का निश्चय किया। उन्होंने उस समय के लोकप्रिय पारसी नाटक 'आलम आरा' को अपनी फिल्म का आधार बनाया और यही नाम अपनी फिल्म का भी रखा। जहाँ तक इस फिल्म के संवादों का प्रश्न है यह दुख की बात है कि इस फिल्म का कोई भी प्रिंट आज उपलब्ध नहीं है। किन्तु इस फिल्म में उपलब्ध एक गीत के आधार पर भाषा का नमूना देखा जा सकता है :

'दे दे खुदा के नाम पर प्यारे तवरूल है गर देने की
कुछ चाहे गर तो मांग ले मुझसे हिम्मत है गर देने की।'

इन पंक्तियों को देखने से पता चलता है कि यह उसी प्रकृति की भाषा है जिसे गांधीजी ने हिन्दुस्तानी नाम दिया था। सरल भाषा में अपनी बात कही है। इस प्रकार सवाक फिल्मों की भाषा ने भी लगभग वही रुख अपनाया जो अन्त के मूक चित्रपटों के शीर्षक कार्डों में निहित थी।

हिन्दी में प्रथम सवाक फिल्म बनने के साथ-साथ इसी वर्ष दक्षिण भारत की सवाक फिल्म कालीदास बनी। इस फिल्म का निर्माण भी आर्देशिर ईरानी ने किया था। महत्वपूर्ण बात यह थी कि दक्षिण की यह प्रथम सवाक फिल्म तीन भाषाओं में थी- तमिल, तेलगू और हिन्दी। यह सुखद बात प्रतीत होती है कि दक्षिण भारत का तमिल प्रांत भाषा के मामले में कितना उदार रहा है। यह देश की पहली बहुभाषी फिल्म थी। इस बहुभाषिकता प्रेम के पीछे उस समय का राष्ट्रीय आन्दोलन महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था। दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना हो चुकी थी। अतः हिन्दी यहाँ भी राष्ट्रीय आंदोलन का प्रतीक बन गई थी। अन्य उल्लेखनीय फिल्में थीं एक 'देवदास' जो 1835 में बरुआ जी के निर्देशन में बनी और दूसरी 'देवदास' जो 1955 में विमलराय द्वारा निर्मित व निर्देशित थी। पहली देवदास के संवाद लेखक केदार शर्मा थे और बाद वाली 'देवदास' के संवाद नबेंदू घोष और राजेन्द्र सिंह बेदी के थे। केदार शर्मा के संवादों पर यह टिप्पणी की गई थी कि 'उनके द्वारा लिखित संवाद फिल्म में नहीं चल पाएंगे क्योंकि ये तो बिल्कुल इस तरह लिखे गए हैं जैसे हम रोजमर्रा के जीवन में आपस में बात करते समय प्रयोग में लाते हैं।[1] इन दोनों फिल्मों के कुछ दृश्यों के संवाद नमूने के रूप में प्रस्तुत किए जा रहे हैं :

1. (देवदास 1935)

(प्रसंग - देवदास की शरारतें बढ़ती जा रही हैं और उसे पढ़ाई के लिए अपने

1. हिन्दी सिनेमा का इतिहास, ले. मनमोहन चड्ढा, राचिन प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली-2 1990, पृ. 186

गांव से दूर अपने मामा के यहाँ कलकत्ता भेजने की बात चल रही है। पार्वती यह सुन लेती है। देवदास और पार्वती अपने खेलने की जगह पर मिलते हैं)

(दृश्य : देवदास गा रहा है पार्वती आती है। संक्षिप्त वार्तालाप के बाद ....)

पार्वती : .....मुझे तुमसे एक जरूरी बात पूछना है।

देवदास : क्या ?

पार्वती : तुम कलकत्ते जा रहे हो ?

देवदास : कलकत्ते ?

पार्वती : हां, मैंने सुना है तुम जा रहे हो।

देवदास : तुमसे किसने कहा ?

पार्वती : तुम्हारे पिताजी ने।

देवदास : पिताजी ने।

पावर्ती : (अफसोस अभिव्यक्त करने की ध्वनि)

देवदास : मैं कहीं नहीं जाऊँगा।

पार्वती : अगर जबरदस्ती भेजा गया तऔ ? (तो.....)

देवदास : जबरदस्ती ? (हंसना....) नहीं पार्वती, मैं तुम्हें छोड़कर हर्गिज नहीं जाऊँगा।

2. (देवदास 1955)

(प्रसंग - देवदास की शिकायतें उसके बड़े भाई के माध्यम से उसके पिता के पास पहुँचती हैं। दोनों मिलकर उसे कलकत्ता भेजने का निर्णय लेते हैं। देवदास की मां इस निर्णय के खुश नहीं पर बड़े बेटे के समझाने पर लाचार हो राजी हो जाती है)

पिता : (बड़े बेटे/पत्नी से) देवा की शरारतें अब हद से ज्यादा बढ़ी जा रही हैं। सोचता हूँ उसे तुम्हारे भाई नगेन्द्र के पास कलकत्ते भेज दूं। यहाँ रहकर तो

यह बिल्कुल चौपट हो जाएगा।

(देवदास इस निर्णय को सुनकर मां के पास रोते हुए कलकत्ता नहीं जाने की इच्छा व्यक्त करता है। मां देवदास को प्यार से पुचकारकर समझाते हुए)

मां : सुन बेटा !

देवदास : नहीं मां, मैं कलकत्ता नहीं जाऊँगा।

इसी प्रकार दूसरा नमूना देखे :

(देवदास 1935)

(प्रसंग - घड़ी रात के दो बजा रही है - देवदास सो रहा है। पार्वती आवाज देकर उसे जगाती है)

देवदास : कौन ?

पार्वती : हां, पार्वती।

देवदास : इतनी रात गए और बिल्कुल अकेली।

पार्वती : हां, अकेली।

देवदास : क्या तुम्हें, क्या तुम्हें किसी का डर नहीं ?

पार्वती : मैं भूतों से नहीं डरती देवदास।

देवदास : हां, हां भूतों से नहीं लेकिन इन्सानों से तो डरती हो।

पार्वती : आं हं, मालूम होता है आज मैं किसी से नहीं डरती।

देवदास (1955)

देवदास : अरे, पारो तुम ! इतनी रात गए अकेली ही आई हो क्या ?

पार्वती : हां ....

देवदास : कैसे आई हो, रास्ते में डर नहीं लगा ?

पार्वती : मुझे भूत-वूत से डर नहीं लगता...

देवदास : अरे भूत से नहीं पर आदमी से तो डर लगता है न ?

पार्वती : शायद इस वक्त उससे भी नहीं...

देवदास (1935)

देवदास : तुम हमारे घर में दाखिल कैसे हुई ? तुम्हें किसी ने देखा तो नहीं ?

पार्वती : हां देखा है, दरबान ने।

देवदास : दरबान ने ? क्या वो पहचान गया ?

पार्वती : वो मुझे पहचानता है

देवदास : ये तुम क्या कह रही हो पार्वती ? ...छिः छिः पार्वती, कल दुनिया को कैसे मुंह दिखा सकोगी ? कल शर्म से तुम्हारी गर्दन उठ सकेगी ?

पार्वती : क्यों नहीं देवदास, मैं इस गर्दन को कभी न उठा सकती अगर ये जानती कि इसको सहारा देन वाला मौजूद नहीं।

देवदास : मैं ? ....मैं, मैं दुनिया को कैसे मुंह दिखाऊँगा ?

पार्वती : तुम ....तुम पुरुष हो देवदास, आज नहीं कल लोग तुम्हारी बातों को बिल्कुल भूल जाएंगे और ये भी भूल जाएंगे कि कब और किस रात बदनसीब पार्वती तमाम दुनिया को ठुकराकर तुम्हारे चरणों में जगह लेने के लिए आई।

देवदास : लेकिन, लेकिन तुम्हारी बदनामी ?

पार्वती : मेरी बदनामी ? देवदास अगर मेरी बदनामी इसलिए होती है कि मैं तुमसे छुपछुपकर मिलने के लिए आई हूँ तो वो मुझे इसकी परवाह नहीं।

देवदास : तुम रो रही हो ....

पार्वती : देवदास, नदी मैं इतना पानी है (आह) क्या मेरे कलंक को धो न सकेगा।

देवदास : फिर क्या मेरे सिवाय और चारा नहीं... पारो।

पार्वती : क्या ?

देवदास : मेरे वालिदेन इसके खिलाफ हैं। सुना, तुम जानती हो... (स्नेह से)

पार्वती : मुझे कुछ भी जानने की जरुरत नहीं।

देवदास : तो क्या मैं उनकी उदूल हुकमी करूं ?

पार्वती : क्या हर्ज है ?

देवदास : तो फिर तुम रहोगी कहाँ ?

पार्वती : तुम्हारे चरणों में।

देवदास : चलो, तुम्हें घर छोड़ आऊँ ...।

पार्वती : तुम मेरे साथ जाओगे ?

देवदास : हूँ, तुम्हारे साथ जाऊँगा। शायद दुनिया मुझे इस समय तुम्हारे साथ देखकर हमेशा के लिए तुम्हारे साथ रहने की इजाजत दे दे।

देवदास (1955)

देवदास : घर के अंन्दर कैसे आई ? किसी ने देखा ?

पार्वती : दरबान ने देखा था....

देवदास : तुमने ऐसा क्यों किया पार्वती ? कल को शर्म से तुम्हारा सर नीचा न होगा ?

पार्वती : जरूर होगा... अगर मैं ये न जानती कि मेरी सारी लज्जा तुम ढंक लोगे।

देवदास : मैं ....? ....लेकिन मैं भी कैसे मुंह दिखाऊँगा ?

पार्वती : तुम, तुम्हारा क्या है ? तुम ठहरे मर्द, आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों तुम्हारे कलंक की बात लोग भूल जाएंगे। दो दिन बाद किसी को इस बात का ध्यान ही न रह जाएगा कि कब किस रात को बदनसीब पार्वती तुम्हारे चरणों पर सर रखने के लिए अपना सब कुछ तुच्छ समझकर यहाँ आई थी।

देवदास : मैं.... मैं तुम्हारे कलंक की बात सोच रहा था पारो।

पार्वती : मेरे कलंक की बात। ....मुझ पर कोई कलंक नहीं, अगर इस बात के लिए मेरी निंदा हो कि तुम्हारे पास छुपकर आई थी तो ये निंदा मुझे न लगे....।

देवदास : अरे तू रो रही है पारो ?

पार्वती : नदी में इतना जल है, क्या इतने जल से भी मेरा कलंक न धुलेगा ?

देवदास : तुम्हें ऐसी बात नहीं करनी चाहिए ....मैं तुम्हारे लिए सब कुछ कर सकता

हूँ। लेकिन, तुम तो जानती हो मेरे मां-बाप इससे बिल्कुल सहमत नहीं हैं। अगर उनकी मरजी के खिलाफ तुमसे शादी करं लूँगा तो तुम कहाँ रहोगी।

पार्वती : तुम्हारे चरणों में, ...मुझे यहीं पे थोड़ी जगह दे दो मेरे देवता।

देवदास : पारो, चलो तुम्हें घर छोड़ आऊँ....

पार्वती : मेरे साथ चलोगे ?

देवदास : क्या हर्ज है, अगर तुम आ सकती हो तो मैं नहीं आ सकता ? बदनामी होगी न ? तो अच्छा है। शायद उसीमें से हम दोनों के लिए कोई रास्ता निकल आए।

उपर्युक्त संवादों में 1935 और 1955 की 'देवदास' के संवादों का तुलनात्मक विश्लेषण करें तो हम देखेंगे कि देवदास (1935) के संवादों में उर्दू के चालू और ठेठ शब्दों का बाहुल्य है जैसे - बेशक, जबरदस्ती, उदूल हुक्मी, वालिदेन, आदि। देवदास (1955) की भाषा बहुत ही सहज और खूबसूरत बन पड़ी है। न उर्दू शब्दों का बाहुल्य न अनुवाद की कमजोरी। 1935 की देवदास के संवादों के पदक्रम कवितामय है जो कई बार असहज लगते हैं जैसे इतनी रात गए और बिल्कुल अकेली ? देखा है दरबान ने (1955 की देवदास में दरबान ने देखा था)। देवदास (1955) में ध्वन्यात्मक शब्दों का सुन्दर प्रयोग किया गया है जैसे - भूत-ऊत/वूत, नौकर-चाकर आदि, जो भाषा को स्वाभाविकता देते हैं और उसमें गति पैदा करते हैं। संक्षेप में हम देखेंगे कि 1935 के काल में भाषा काफी परिमार्जित हो गई थी। हिन्दी संवाद (खड़ी बोली) का प्रभाव फिल्मों में बढ़ रहा था और संवाद दर्शकों के मध्य लोकप्रिय हो रहे थे।

किस्मत (1943)

बम्बई टाकीज द्वारा बनी इस फिल्म के संवाद पी.एल.संतोषी और शाहिद लतीफ ने लिखे थे। इस फिल्म में प्रयुक्त संवादों की भाषा के कुछ नमूने इस प्रकार से हैं :

नमूना 1

जेलर : (शेखर से) नम्बर सोला (सोलह), आज तुम्हारी सजा के दो साल पूरे हुए, तुम रिहा किए जाते हो। ये लो (सामान देता है)

शेखर : मेरा लॉकेट ?

जेलर : अरे हां, ये लो, आज तुम तीसरी बार जेल से रिहा किए जा रहे हो। क्या मैं उम्मीद कर सकता हूँ कि फिर कभी यहाँ आना न होगा ?

शेखर : जेलर साहब, मेरी तो हमेशा यही कोशिश रहती है कि मैं यहाँ न आऊँ लेकिन क्या करूं एक तरफ मैं अकेला और दूसरी तरफ पुलिस का इतना बड़ा डिपार्टमेंट, मुझे आना ही पड़ता है। अच्छा, आदाब अर्ज है।

जेलर : अदाब अर्ज है।

नमूना 2

(प्रसंग : शेखर एवम् बांके दोनों जेबकतरे हैं। एक घड़ी जिसे बांके ने चुराया था, उसे बाद में शेखर चुरा लेता है, उस घड़ी को एक दुकानदार के पास देखकर दोनों में तनातनी हो जाती है)

दुकानदार: अरे बांके, क्यों शामत आई है ? जानता है ये कौन हैं ? शेखर बाबू....

बांके : अरे बाप रे, तो आप ही शेखर बाबू हैं, तभी, नहीं तो मुझपर हाथ साफ करना आसान काम नहीं है। बड़े अच्छे मिले।

शेखर : (दुकानदार से) और आपकी तारीफ ?

दुकानदार: और ये हैं हमारे बांके बाबू, नम्बरी उचक्के।

बांके : (खिसियाते हुए) अजी उचक्का तो क्या-यों कभी-कभी एकाध जेब काट लेता हूँ।

नमूना 3

(रानी का मकान गिरवी रखा हुआ है। सेठ का मैनेजर ब्याज वसूल करने आता है। शेखर भी वहाँ मौजूद है)

मैनेजर : (शेखर से) रानी कहाँ है ?

शेखर : अन्दर .....

मैनेजर : जरा बुला लीजिए, कहिए मैनेजर साहब आए हैं।

शेखर : किस काम से आए हैं आप ?

मैनेजर : ये उसे मालूम है।

शेखर : मैं भी तो सुनूं ?

मैनेजर : ये मकान देखते हैं ? ये सारा मकान मेरे साहब के पांस रेहन है, मैं उसका ब्याज लेने आया हूँ, समझे ?

शेखर : लेकिन-सुबह-सुबह आप ये शुभ काम करने क्यों चले आए ? मेरे ख्याल से इस वक्त आप तशरीफ ले जाइए।

उपर्युक्त सभी नमूनों की भाषा उर्दू मिश्रित हिन्दी है। इनमें साल, रिहा, सजा, उम्मीद, कोशिश, तरफ, वक्त, सुबह आदि ऐसे शब्द हैं जो हिन्दी भाषा में खप गए हैं, अब इनके स्थान पर क्रमशः वर्ष, मुक्त, दण्ड, आशा, प्रयत्न, ओर, समय, भोर/प्रातः आदि शब्दों का प्रयोग सहज नहीं लगता। इस दृष्टि से यहाँ हिन्दुस्तानी का सरल बोलचाल का रूप प्रयुक्त हुआ है। इसके अलावा तशरीफ ले जाना, आदाब अर्ज, आपकी तारीफ, नम्बरी उचक्का आदि प्रयोग खास उर्दू शैली को दर्शाते हैं। उर्दू मिश्रण के बाद भी भाषा में सहजता आती गई। यही फिल्मी संवादों की खासियत रही है।

मुगल-ए-आज़म (1960)

वस्तुतः उर्दू भाषा की फिल्म थी बावजूद इसके कि इस फिल्म के सेंसर प्रमाणपत्र में इसे 'हिन्दी' फिल्म के रूप में प्रस्तत किया गया है। इस फिल्म के संवादों की विशेषता यह थी कि इन्हें चार लेखकों - अमान, एहसान रिजवी, कमाल अमरोही और वज़ाहत मिर्जा-ने मिलकर लिखा था। संवाद प्रस्तुति की दृष्टि से यह एक उत्कृष्ट फिल्म थी खासकर पृथ्वीराज कपूर (अकबर) की संवाद प्रस्तुति बेजोड़ थी।

इसी वर्ष बी.आर.फिल्मस द्वारा निर्मित फिल्म 'कानून' प्रदर्शित हुई जिसके संवाद अख्तर-उल-ईमान ने लिखे थे। इस फिल्म में अदालत के दृश्य काफी रोमांचक और प्रभावशाली थे। इस फिल्म के संवादों का एक नमूना प्रस्तुत है :

(अदालत का दृश्य)

(सरकारी वकील खन्ना जज को मुल्जिम का पेशा बताना चाहता है)

कैलाश : आई ऑब्जेक्ट योर ऑनर, मुल्जिम कौन है और उसका पेशा क्या है, इस बात का इस मुकदमे से कोई वास्ता नहीं।

जज : ऑब्जेक्शन ओवर रूल्ड

कैलाश : मैं फिर कहूँगा योर ऑनर ये नामुनासिब है, जूरी को मेरे खिलाफ किया जा रहा है।

जज : ....प्रोसीड मि. खन्ना

खन्ना : हाँ ....तो मैं ये बता रहा था मोबराने जूरी कि मुजरिम कौन है.... (सरकारी वकील का मुव्वक्किल को मुजरिम कहने पर कैलाश का ऑब्जेक्शन उठाना)

जज : ऑब्जेक्शन ससटेंड; सरकारी वकील का यह बयान खारिज समझा जाए। मेम्बराने जूरी नोट कर लें।

यह नमूना अदालतों की भाषा का उदाहरण मात्र है। यहाँ यह बात देखी जा सकती है कि नौ वर्ष पहले बनी फिल्म 'आवारा' में कोर्ट की भाषा कुछ अलग थी। वहाँ वकील, जज को 'जनाबेबाला' कहकर बुलाती है, जबकि यहाँ 'योर ऑनर' जैसे अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। 'ऑब्जेक्शन ओवर रूल्ड', ऑब्जेक्शन सस्टेंड', 'प्रोसीड' जैसे पारिभाषिक अदालती शब्दों का प्रयोग बाद की फिल्मों के अदालतों दृश्यों में इतना अधिक हुआ है कि सामान्य जनता के लिए भी उक्त शब्द ग्राह्य हो गए हैं और वे अपरिचित नहीं लगते।

गंगा जमना (1961) : यह फिल्म देश के पूर्वी हिस्से बिहार की भाषा-भोजपुरी- में

बनी फिल्म थी। लेकिन इसे हिन्दी फिल्म के रूप में ही लोगों ने ग्रहण किया और देशभर में लोकप्रिय बनाया। इस फिल्म का निर्माण दिलीप कुमार ने किया था और लेखन कार्य भी स्वयं उन्होंने ही किया था। संवाद वजाहत मिर्जा के थे। भोजपुरी भाषा में होने के कारण यह देश की मिट्टी की गंध लेकर हमारे सामने आती है। इस फिल्म के संवादों की एक झलक देखें :

(दृश्य : गांव का घर। घर में गंगा-जमना और उनकी मां)

मां : अरे, गंगा .....गंगा

गंगा : आया मां .....

मां : बेटे सब काम निपटाए दिया ?

गंगा : अरे सब फरसु-किलास होई गय मां

(मां पूछती है कि क्या मां गैया को घास डाल दिया, तो गंगा 'ससुरी' को घास डालने की पुष्टि करता है। इस पर मां बताती है कि यह उसके पिता की निसानी है)

गंगा : अरे तेरे पास तो दुई-दुई निसानी धरी है, एक मैं और एक वो तेरा सुपरिटेंड (जमना की ओर इशारा)

एक और दृश्य :- (रात का समय है बारिश हो रही है। कमला जमना के कमरे में आती है। दोनों में बातचीत)

जमना : इतनी रात गए तुम्हें यहाँ नहीं आना चाहिए था कमला।

कमला : (आवाज में पीड़ा) तुमसे दूर रह सकती हूँ, दुख सह सकती हूँ लेकिन किसी और के हाथ बिक नहीं सकती।

जमना : मेरी बात मानो घर चली जाओ

कमला : वापस जाने के लिए यहाँ नहीं आई .....मुझे वापस मत भेजो, मेरे पास इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं। मेरा सब कुछ जल जाएगा।

जमना : तो जाओ कमला, मैं भी तुम्हारे साथ इस आग में जलूंगा। लेकिन कोशिश यहीं करता रहूँगा कि मेरी राह कमजोरी या बुराई की तरफ न जाए।

पहले दृश्य के संवाद गांव के बिना पढ़े-लिखे पात्रों के मुख से निकले हैं जो ठेठ भोजपुरी में बोले गए हैं जबकि दूसरे दृश्य में पात्र पढ़े-लिखे हैं और खड़ी बोली में हिन्दी बोलते हैं। अन्य दृश्यों में जेल व अदालत के दृश्य भी शामिल हैं जिनमें उर्दू शब्दों का प्रयोग सजा, कैद, मुद्दत आदि कोर्ट-कचहरी के हिसाब से स्वाभाविक लगता है।

गंगा-जमना के चार वर्षों के बाद एक ऐसी फिल्म बनी जिसने संवादों की दुनिया में अपना विशेष स्थान बनाया। वह फिल्म थी 'वक्त' (1965)। बी. आर. फिल्म्स द्वारा निर्मित इस फिल्म के संवाद अख्तर-उल-ईमान ने लिखे थे जिन्होंने 'कानून' के भी संवाद लिखे थे। साठ के दशक में अब तक हिन्दी साहित्य में ऐसे लेखक आ चुके थे, जिन्होंने हिन्दी भाषा को बहुत ही सरल मगर सशक्त रूप प्रदान किया। हिन्दी भाषा जनता की भाषा के निकट आने लगी। इन लेखकों में कमलेश्वर, मोहन राकेश आदि शामिल हैं जो फिल्मों से भी जुड़े। 'वक्त' की कथावस्तु में लाहौर भी है, दिल्ली भी है और बम्बई भी। इस फिल्म के संवाद इतने लोकप्रिय थे कि उस समय लोगों की जुबान पर चढ़ गए थे। विशेषकर राजकुमार के संवाद और उनकी प्रस्तुति पूरी फिल्म पर छाई रही। उनपर फिल्माए गए एक दृश्य के संवाद उदाहरण के रूप में देखें :

(राजा (राजकुमार) चुनाय सेठ, जो गैरकानूनी कामों में है और राजा से भी वही काम करवाता है, के पास आता है)

राजा : लीजिए, हम भी आ गए।

सेठ : (दिखावटी आत्मीयता से) ओह राजा .....

राजा : (स्वीमिंग पूल में किलोल करती युवा लड़कियों को देखकर) आप तो सचमुच राजा इन्दर हैं चुनाय सेठ।

सेठ : सिर्फ इंदर, राजा तो तुम हो। नाम के तो थे ही, अब काम के भी बन गए।

राजा : मेरे राजा होने का कौन-सा सबूत मिल गया आपको ? किसका मुंह भर दिया मोतियों से मैंने ?

सेठ : मित्तल का। सुना है, आजकल उसकी लड़की पर बड़ी नजरें इनायत हैं आपकी, हार वापस कर दिया ?

राजा : ये मेरा जाती मामला है।

सेठ : तुम्हारा कोई मामला जाती नहीं। (आपस में बहस बढ़ती है। बीच में सेठ का आदमी बंसी आता है और बहस बढ़ती देख चाकू खोलता है। राजा बंसी से खुला चाकू से लेता है और उसकी धार पर अपना अंगूठा फेरते हुए कहता है)

राजा : ये बच्चों के खेलने की चीज नहीं, हाथ कट जाए तो खून निकल आता है।

(यह कहकर राजा चाकू फेंककर लापरवाही के अन्दाज में चल देता है)

एक अन्य दृश्य में जब सेठ चिनाय राजा को धमकी देता है और कहता है कि मैं जितनी मोहब्बत करता हूँ, उतनी नफरत भी कर सकता हूँ। इस पर राजा का कहा हुआ वाक्य 'मोहब्बत और नफरत, चुनाय सेठ, जिनके अपने घर शीशे के हों, वो दूसरों पर पत्थर नहीं फेंका करते .....' पब्लिक की जुबान पर आज भी चढ़ा हुआ है। इस फिल्म में हालांकि उर्दू शब्दों का बाहुल्य है किन्तु वे खलते नहीं क्योंकि बोलचाल के ही उर्दू शब्दों का प्रयोग किया गया है। संस्कृत शब्द ना के बराबर हैं।

साठवें दशक के अन्त में व्यावसायिक सिनेमा के साथ-साथ समानान्तर सिनेमा के रूप में कुछ नया करने की प्रवृत्ति भी पनप रही थी। मृणालसेन की भुवन शोम (1969) और बासू चटर्जी की 'सारा आकाश' (1969) इस नया सिनेमा की शुरुआत थी। यह वह समय था जब हिन्दी साहित्यकार नई कहानी से अकहानी और कविता से अकविता की ओर बढ़ रहे थे। साहित्य एक बार फिर व्यक्ति की ओर उन्मुख हो गया था। नई धारा की सिनेमा शैली फिल्म की उस परंपरावादी शैली से कुछ अलग थी जिसमें चीजों को वर्णनात्मक पुट देकर उसे चाशनी या चटनी बनाकर पेश किया जाता रहा था। इन फिल्मों ने कथ्य को कहने के पारंपरिक ढांचे को तोड़ा। 'सारा आकाश' इसी शैली की फिल्म थी। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है इस फिल्म की

भाषा बोलचाल की हिन्दी में है उर्दू के शब्द न के बराबर हैं अन्यथा जैसा कि हमने पूर्व में देखा 'किस्मत', 'आवारा', 'वक्त', 'कानून' आदि फिल्मों की भाषा में उर्दू का प्रभाव अधिक था। उन फिल्मों की तुलना में इस फिल्म की भाषा 'हिन्दी' ही कही जा सकती है। कहीं-कहीं पर ठेठ पश्चिमी हिन्दी का प्रभाव भी दिखाई देता है। इसी प्रकार मणी कौल की फिल्म 'दुविधा' (1973) के संवादों की भाषा 'सारा आकाश' की भांति बढ़िया हिन्दी में हैं।

1975 में फिल्म 'शोले' आई। व्यावसायिक दृष्टि से 'शोले' अब तक बनी फिल्मों में सफलतम फिल्म थी। जी.पी. सिप्पी द्वारा निर्मित इस फिल्म का निर्देशन रमेश सिप्पी का था। फिल्म के संवाद प्रसिद्ध जोड़ी सलीम-ज़ावेद ने लिखे थे जो काफी लोकप्रिय हुए और आज भी लोगों की जुबान पर चढ़े हुए हैं। इस फिल्म के संवादों की लोकप्रियता इसी तथ्य से लगाई जा सकती है कि इस फिल्म के संवादों के करीब पांच लाख एल.पी. बिके थे।[1] फिल्म की भाषा सरल उर्दू हिन्दी में है। इसमें न तो देवदास वाली उर्दू है और न ही कानून वाली भाषा। इस समय तक आते-आते सरल उर्दू का प्रयोग होने लगा था। कहीं-कहीं देशज शब्दों का भी प्रयोग किया गया है जैसे कटीली, नवनियां, दुमका, दारी, करारे, टेंटुआ आदि। डाकुओं के उच्चारण में भोजपुरी का लहजा है। जैसे गब्बर सिंह का खुश को खुस, शाबाशी को साबासी कहना। वस्तुतः यह दृश्य इस फिल्म की रीढ़ है। पूरी फिल्म की संवाद-शैली इस दृश्य पर टिकी है।

दृश्य : (गब्बर सिंह का अड्डा, छोटी-छोटी पहाड़ियों/टीलों से घिरा)

गब्बर : हूं ..... कितने आदमी थे ?

डाकू : सरदार दो ....

गब्बर : हूं ....दो आदमी.... सूअर के बच्चो..... वो दो थे और तुम तीन। फिर भी वापस आ गए.... खाली हाथ.... क्या समझकर आए थे कि सरदार बहुत

1. Film India 'Looking back' 1896-1960, संपादक : रानी बुर्रा, प्रकाशक, फिल्म समारोह निदेशालय, भारत सरकार, नई दिल्ली

खुस होगा। साबासी देगा.... क्यों.... ? धिक्कार है..... अरे ओ सांभा, कितना इनाम रखे हैं सरकार हम पर..... ?

सांभा: पूरे पचास हजार....

गब्बर: सुना ?..... पूरे पचास हजार। और ये इनाम इसलिए है कि यहाँ से पचास-पचास कोस दूर गांव में जब बच्चा रात को रोता है तो मां कहती है बेटे सोजा, सोजा नहीं तो गब्बर आ जाएगा.....

..... और ये तीन हरामजादे गब्बरसिंह का नाम पूरा मिट्टी में मिलाए दिए .... इसकी सजा मिलेगी, बराबर मिलेगी....

इस प्रकार 'आलम आरा' (1931) फिल्म से जो ठेठ उर्दू का प्रस्ताव फिल्मी संवादों को लेकर शुरू हुआ वह धीरे-धीरे दूर होता चला गया और शोले तक आते-आते फिल्मी संवादों की भाषा बोलचाल की हिन्दी में ढल गई। यहां भी कुछ संवाद लेखकों ने अगर उर्दू शब्दों का प्रयोग किया भी तो वह सरल उर्दू थी। इसके बाद की फिल्मों में भाषा का लगभग यही रूप रहा जब तक कि कोई फिल्म किसी विशेष कथावस्तु को लेकर नहीं बनी। अन्य भाषाई रूप जैसे बंबइया हिन्दी (झोपड़पट्टी वालों की) या हैदराबादी हिन्दी आंचलिक हैं जो इन क्षेत्रों में बोली जाने वाली भाषा के रूप हैं। हम इन्हें सामान्य रूप में हिन्दी के मानक-भाषाई रूप में तो नहीं ले सकते पर यह अवश्य कह सकते हैं कि अपने-अपने क्षेत्र में ये भाषाई रूप एक प्रकार की विषयवस्तु (टेक्स्ट) को अभिव्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिए हम सत्यजीत राय की पहली हिन्दी फिल्म 'शतरंज के खिलाड़ी' (1977) के निम्नलिखित संवादों की भाषा को लें जिनमें अवधी का प्रयोग किया गया है :

1. हरिया (मिर्जा से) : सरकार, दुल्हन बेगम बुलाई हैं आपको।

   मिर्जा : ....क्या बात है ?

   हरिया : अब हम इ का का जाने-सरकार

   मिर्जा : (गुस्से में) ....कह दो आते हैं।

2. (कलुआ आकर खबर देता है। मिरजा/मीर लड़ने के बाद उदास बैठे हैं)

'बादशाह सलामत राजपाट छोड़ दिहिन सरकार - गोरे लोग हमरा बादशाह हो गवा - कोनो लड़त नाही। बन्दूक कोनो नहीं चलावत।'

इन संवादों का बहुत स्वाभाविक प्रयोग हुआ हैं और जिस क्षेत्र (अवध) में कहानी का विस्तार होता है वहाँ की भावना मूल रूप में अभिव्यक्त हुई है। यह क्षेत्रीय पुट ही कथा को स्वाभाविकता प्रदान करता है। यहाँ पर हम प्रसिद्ध समाज, भाषा विज्ञानी एम. ए. के. हेलिडे के कथन को उद्धृत करेंगे। उनके अनुसार 'भाषा-समुदाय' के नाम से परिभाषित समुदाय के लोग आपस में एक सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत जुड़े रहते हैं, आपंस में वार्तालाप करते समय एक ही प्रकार की भाषा बोलते हैं। ....महानगर के लोगों को हम भाषासमुदाय के अन्तर्गत नहीं रख सकते क्योंकि वहाँ विभिन्न समाजों के लोग रहते हैं और अलग-अलग भाषाएं/बोलियाँ बोलते हैं।[1]

किन्तु फिल्म 'चक्र' (1981) की पूरी भाषा बम्बइया हिन्दी है जो विशेषकर वहाँ की झोपड़पट्टियों में बोली जाती है। बम्बई महानगर में रहने के बावजूद यहाँ की झोपड़पट्टियों का समुदाय आर्थिक दृष्टि से एक वर्ग का समुदाय बन गया है (अति निम्नवर्ग) और उन्होंने अपनी एक भाषा विकसित की जिसे लगभग सभी एक ही प्रकार से बोलते हैं। इस फिल्म में बोले गए संवादों की एक झलक निम्नवत् प्रस्तुत है:

नमूना 1 (दृश्य : एक गुजराती सेठ (एक छोटा व्यापारी) की दुकान पर लुक्का और बेनुआ बकाया वसूल कर रहे हैं)

बेनुआ : (धमकाते हुए) ..... ओ सेठ,

सेठ : (बिना ध्यान दिए) सूं-छे ?

लुक्का : (धीरे से) सेठ .....

सेठ : सेठ, सेठ करि छे, बोलते नहीं क्या है ?

1. Language as Social Semetic - MAK Halliday Published by Edward Annold Ltd., 25 Hall St. London 1978, Page 154 & 163

लुक्का : सेठ इसका कुछ पैसा निकलता है.....

सेठ : कैसा पैसा ?

लुक्का : इसका पगार।

सेठ : इसके पगार में से नुकसानी काट के दे चुका हूँ समझे।

लुक्का : नहीं देगा ..... हाँ (चाकू खोलकर काउन्टर पर नोट से टक-टक करता है)

सेठ : वरना ... पुलिस को बुलाएगा।

लुक्का : सेठ चिल्ला नई मेरे को बोत डर लगता है।

सेठ : क्या करते हो भाई, हिंसा करने आए हो, हं ?

लुक्का : नई-नई सेठ-अपुन तो पैसा वसूल करने को आया है,।

नमूना 2 (एक ढाबे में लुक्का बेनुआ को खुमारी में समझा रहा है)

लुक्का : तेरे को एक बात बोल रहा हूँ, जिन्दगी में कबी चुप नहीं बैठने का - हं ....साला अपना हक मांग लेने का... मांग लेने का...

यहाँ हम देखते हैं कि सेठ बीच-बीच में स्वभाववश गुजराती बोलता है वह भी बम्बइया हिन्दी में। बाकी सब पात्र उसी भाषा में बोलते हैं। लुक्का के संवादों में मुझे, नहीं, बहुत, हम आदि के स्थान पर क्रमशः मेरे को, नई, बोत, अपुन का प्रयोग है जो बम्बईया हिन्दी की भाषा विशेषता है। 'हलकट, नको, जैसे मराठी शब्दों का भी इस फिल्म में प्रयोग किया गया है। जो आम शब्द हो गए हैं। 'पगार' शब्द पुर्तगाली से आया है किन्तु बम्बइया हिन्दी में मिश्रित हो गया है। 'हक मांग लेने का...' में 'का' हिन्दी वाला का नहीं है बल्कि बम्बइया काअपनी बात पर जोर देने का सूचक है और हिन्दी का बाध्यतासूचक 'चाहिए' का विकल्प है। 'साला' का प्रयोग भी गाली के अर्थ में न होकर घृणा अभिव्यक्त करने के अर्थ में है।

फिल्म 'बाज़ार' (1982) की भाषा हैदराबादी हिन्दी का रूप है। इस फिल्म के कुछ संवादों को उदाहरणस्वरूप उद्धृत किया जा रहा है :

(नजमा (स्मिता पाटिल) को मां की बातें याद आ रही हैं। नजमा नौकरी करना चाह

रही है, पर मां सहमत नहीं है)

मां : नौकरी कर को अपनी इज्जत को बट्टा लगाएंगी ? लोगां क्या कहेंगे ? कैसे-कैसे नामां देंगे ? नहीं बेटी, हमारे खानदान में तो नौकरां रखते हैं, नौकरी नको करते। नोकरी तो छोटे लोगां करते हैं..... मान जाओ बेटी.....

इन संवादों मे हम देखते हैं कि जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है वे हैदराबादी हैं जैसे - करको, लगाएंगी, लोगां, नोकरां, नामां, जैसे पदबंध ठेठ हैदरा बादी हैं। हैदराबादी में संज्ञाओं (स्त्री-पुरुष) में आ जोड़कर बहुवचन बनाने प्रवृत्ति है। जैसे रात को रातां, हाथ को हाथां आदि।

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में टी.वी. क्रान्ति पूरे जग में प्रारम्भ हो गई थी। आठवें दशक में भारत में दूरदर्शन क्रान्ति इस तरह से फैली कि बड़ा परदा छोटे परदे में सिमटने लगा, और हर घर का ड्राइंग रूम एक निजी थियेटर बनने लगा था। बाजार में, यहाँ तक कि सुदूर कस्बों में भी विडियो पार्लर चल निकले। बड़े परदे के व्यवसाय पर इसका काफी प्रभाव पड़ा। उनका अस्तित्व ही खतरें में पड़ने लगा। ऐसे समय कुछ ऐसी फिल्में आई जिन्होंने बड़े पर्दे को नया जीवन दिया। लोग फिर से सिनेमाघरों की ओर आकर्षित होने लगे। ऐसी एक फिल्म थी 'अर्धसत्य' इस फिल्म की भाषा हिन्दी व बम्बइया हिन्दी का मिश्रण है। इस फिल्म के एक दृश्य के कुछ संवाद उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत हैं :

(दृश्य : हैदरअली (शफी इनामदार) जो एक इन्सपैक्टर है, सब इंस्पैक्टर वैलणकर (ओमपुरी) को समझा रहा है जिसे झोपड़पट्टी के गुंडों को पीटकर आने के कारण सस्पेंड (निलंबित) करने की मांग आती है।)

हैदरअली : वेली, जरा मेरे साथ चलना, चाय पीके आते हैं।

वेलणकर : (आक्रोश के साथ) आप जानते हैं सर वो सब मवाली लोग हैं। ये कोई बात हुई कि एक शादीशुदा औरत को भरी गली में दबोचें, क्या मजाक समझ रखा है सालों ने ? और फिर मैने उन्हें ऐसे नहीं मारा कि उनकी कोई हड्डी

टूटे या खून निकले, बस सबक सिखाना चाहता था उनको.... सिर्फ इस बात के लिए मिनिस्टर साहब मुझे सस्पैंड करने की मांग कर रहे हैं ? .... लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि इन लोगों का हाथ मिनिस्टर तक पहुँचा कैसे ?

हैदरअली : (बात काटते हुए) ... आपको लगता होगा वो मुश्किल बात है। अपने इलाके के एम.एल.ए. के पीछे पड़ जाओ, वो मिनिस्टर की हाजरी में ला खड़ा कर देता है। उसे भी तो रोब गालिब करना होता है कि देखो मेरी पहुँच ऊपर तक है। ऐसे लोगों की उन्हें जरूरत भी होती है, जिन्हें वे संभालकर भी रखें और जब चाहें इस्तेमाल भी करें ...

(एक और दृश्य : वेलणकर (ओम पुरी) रामा शेट्टी को गिरफ्तार करने उसके अड्डे पर आया है)

वेलणकर : नारायण सालुंके हास्पीटल में मर गया। डाईग डिक्लेरेशन में उसने तुम्हारा नाम लिया है। तुमने उसे जलाकर मारने की साजिश की है। मैं तुम्हें गिरफ्तार कर रहा हूँ ....

शेट्टी : कल आना ... देखेंगे।

वेलणकर : मैं तुम्हें पुलिस स्टेशन ले जाने आया हूँ, कल नहीं आज।

शेट्टी : पाटिल साहब को बोल देना कल सुबे हम खुद आकर मिलेगा ....

वेलणकर : कल सुबह का सवाल ही नहीं उठता, अभी...

शेट्टी : कितना मांगता है ? कैश मिलेगा ....

शेट्टी : ठहरो - (वह कमिश्नर को फोन करता है) हलो, हम रामा शेट्टी सर, माफ करना आपको वापिस फोन करना पड़ा। आपका एक अफसर इधर आया है सर, हमको अबी के अबी पुलिस स्टेशन चलने को बोलता है .... एस सर..... अबी इस टाइम आने को बोलता है .....उससे ... (फोन का रिसीवर वेलणकर की ओर बढ़ाते हुए कुछ सख्त आवाज में ...) लो बोलो.....

(कमिश्नर वेलणकर को डाँटकर वापस बुला लेता है)

पहले दृश्य में भाषा का रूप न तो 'चक्र' वाली बम्बइया हिन्दी है, न 'शोले' वाली हिन्दी का और न ही 'सारा आकाश' वाली हिन्दी का है। इसमें तीनों का मिश्रण है। भाषा सरल भी है हिन्दी के स्वरूप से जुड़ी हुई है और उस पर बम्बइया हिन्दी का भी प्रभाव है। जैसे 'मवाली लोग', 'आपको-लगता वो मुश्किल बात है'। इस प्रकार दूसरे दृश्य में बम्बइया असर स्पष्ट दिखाई देता है। जैसे 'चलने को बोलता है', 'अभी इसी टाइम आने को बोलता है' बम्बइया हिन्दी में प्रायः 'के लिए' के लिए 'को' या 'कू' का प्रयोग किया जाता है। भाषा को स्वाभाविक बनाने के लिए कहीं-कहीं अंग्रेजी का प्रयोग किया गया है - जैसे एम.एल.ए., डाईंग डिक्लेरेशन, सस्पेंड आदि। सरल उर्दू का भी इस्तेमाल किया गया है - मुश्किल, जरूरत, हाजिरी, मजाक आदि। इस फिल्म के संवाद विजय तेंदुलकर और वसंत देव नें लिखे थे।

उपर्युक्त फिल्मों के संवादों का विश्लेषण करने के पश्चात् मुख्य रूप से यह बात सामने आती है कि सन् 1931 से जिस ठेठ उर्दू का चलन हिन्दी फिल्मों में आरम्भ हुआ था वह शनैः शनैः बोलचाल की हिन्दी में परिवर्तित होता चला गया। बाद में चलकर हिन्दी के साथ-साथ उसमें अन्य भाषाई रूप भी समाविष्ट हो गए जिनका जिक्र हमने फिल्म 'चक्र' और 'अर्धसत्य' का विवेचन करते समय किया। इस दौरान फिल्मों में सरल उर्दू का प्रयोग भी जारी रहा। हिन्दी उर्दू के मिश्रण को जहाँ प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ. अशोक केलकर ने हिंर्दू शब्द दिया[1] वहां संगीतकार भास्कर चंदावरकर ने इन सिनेमाई संवादों की भाषा को 'भेलपूरी हिन्दी' बताया है।[2] हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार रामधारी सिंह दिनकर ने भी हिन्दी के मिश्रित रूप को खिचड़ी भाषा कहा।[3] इन सबके बावजूद यह निर्विवाद सत्य है कि हिन्दी फिल्मों ने हिन्दी के प्रचार प्रसार में काफी योगदान दिया है तथा हर प्रकार की हिन्दी को जनता के समक्ष प्रस्तुत

1. Studies in Hindi Urdu by Ashok R Kelkar, Published by Deccan College, Pune - 6 (1968)
2. सरगम का सफर, नई दुनिया, फिल्म विशेषांक 1969
3. राष्ट्रीय भाषा और राष्ट्रीय एकता, प्राज्ञपाठमाला, गृहमंत्रालय, भारत सरकार 1967 पृष्ठ 8

किया है चाहे वह खड़ी बोली हो, मगधी हो, भोजपुरी हो, हैदराबादी हो, अवधी हो, 'हिंग्रजी' हो या फिर बम्बइया हिन्दी। जनता ने भी हिन्दी के प्रत्येक रूप को सहर्ष अपनाया है। सिनेमा की भाषा पर कभी कोई विवाद नहीं उठा। हिन्दी फिल्मों ने जितनी बम्बई, दिल्ली व उत्तरी भारत के अन्य क्षेत्रों में लोकप्रियता हासिल की, उतनी ही दक्षिण भारत में। दक्षिणी प्रांतों में विशेषकर तमिलनाडू में हिन्दी का राजनैतिक कारणों से जो भी विरोध रहा हो किन्तु सिनेमाई-हिन्दी का वहाँ की जनता ने कोई विरोध नहीं किया। फिल्मों का हिन्दी के विकास में योगदान वास्तव में अमूल्य रहा है।

4. हिन्दी फिल्म पत्रकारिता : प्रवृत्ति एवम् विकास

फिल्म आकर्षण की दुनिया का ऐसा जादू है जो सर चढ़कर बोलता है। सिनेमा के प्रति दुनिया भर के लोगों में एक जबरदस्त चाव पाया जाता है। दूसरे, सिनेमा के बारे में कई तरह से सोचने-समझने एवम् पढ़ने का भी लोगों में आकर्षण रहा है। यहाँ तक कि फिल्म सम्बन्धी घासलेटी साहित्य को भी बड़े शौक से पढ़ा जाता है। किन्तु जिस तरह से सिनेमा का विकास व विस्तार हुआ, उस गम्भीरता से फिल्म पत्रकारिता को नहीं लिया गया। जिस प्रकार फिल्मों को भले घर के लड़के-लड़कियों के लिए त्याज्य समझा गया, उसी प्रकार स्तरीय लेखक भी फिल्म पर लेखनी चलाने को आगे नहीं आए। फिल्म को भी काफी अरसे तक गम्भीर कला माध्यम स्वीकर नहीं किया गया। लेकिन धीरे-धीरे स्थिति में बदलाव आया और आज देश में फिल्मी पत्र-पत्रिकाओं की संख्या लगभग 750 है, लगभग इतनी फिल्में हमारे देश में हर साल बनती हैं। केवल कुछ लोकप्रिय पत्रिकाओं को छोड़कर शेष सभी संघर्ष के दौर में हैं जिनका अस्तित्व केवल गपशप, स्कैण्डल, सनसनी फैलाने वाले समाचारों तथा सिने उद्योग के प्रति षड़यंत्रों की खबरों पर ही निर्भर है।

यद्यपि अमेरिका तथा युरोप में प्रथम महायुद्ध के समय से ही सिनेमा के बारे में अध्ययन आरम्भ हो चुका था किन्तु भारत में मध्य पचास के बाद ही सिनेमा पर

अध्ययन शुरु हुआ। यद्यपि विश्व में जबसे फिल्मों का प्रदर्शन प्रारम्भ हुआ तब से फिल्मों के सम्बन्ध में खट्टी-मीठी प्रतिक्रियाएं भी मौजूद हैं। ये प्रतिक्रियाएं ही फिल्म पत्रकारिता की पहली सीढ़ी मानी जाती है। यह माना जाता है कि स्व. बाबूराव पटेल, जो एक समर्थ पत्रकार थे, द्वारा सन् 1935 में प्रारम्भ की गई पत्रिका 'फिल्म इण्डिया' से ही फिल्म पत्रकारिता शुरू हुई। आज के प्रसिद्ध निर्माता-निर्देशक बी.आर. चोपड़ा भी तब फिल्म पत्रकार थे तथा लाहौर से 'सिने हेराल्ड' निकालते थे। ख्वाजा अहमद अब्बास भी बी.पी. साठे के साथ मिलकर 'साउण्ड' का प्रकाशन करते थे। अन्य पत्रिकाओं में 'सिनेमा', 'मूवीज' आदि शामिल है। 'टाकी हैराल्ड' बम्बई, 'दीपाली' कलकत्ता, 'रूपवानी' दिल्ली तथा 'फिल्म पिक्टोरियल' एवम् 'स्क्रीन वर्ल्ड' लाहौर जैसे अंग्रेजी पत्रिकाओं ने हिन्दी प्रकाशकों को प्रेरणा दी। फलस्वरूप हिन्दी में भी बहुत बड़ी संख्या में फिल्मी पत्रिकाएं निकलने लगीं।

भारत में फिल्म निर्माण के प्रमुख केन्द्र यद्यपि बम्बई, कलकत्ता एवम् मद्रास रहे हैं तथापि हिन्दी की फिल्म पत्रकारिता का प्रमुख केन्द्र दिल्ली रहा है। उक्त अन्य तीन केन्द्रों से भी हिन्दी की फिल्म पत्रिकाएं निकलती हैं किन्तु इस क्षेत्र में अग्रणी दिल्ली ही है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि फिल्म वितरण एवम् फिल्म प्रदर्शन का दिल्ली ही प्रमुख केन्द्र है। फिल्म वितरकों से इन पत्रिकाओं को अपेक्षित सहयोग मिल जाता है तथा विज्ञापन, ब्लॉक आदि प्रचार सामग्री सरलता से सुलभ हो जाती है। भारत में सबसे पहली बोलती फिल्म 'आलमआरा' का निर्माण 1931 में हुआ था, जिसका जादू शिक्षित वर्ग पर भी हुआ। लोगों में फिल्म और उसमें काम करने वाले कलाकारों के बारे में अधिक से अधिक जानने की उत्सुकता हुई। लोगों की इस जिज्ञासा को शान्त करने की दृष्टि से 1932 में दिल्ली से 'रंगभूमि' का प्रकाशन शुरु हुआ। किन्तु प्रथम हिन्दी फिल्म पत्रिका के विषय में अभी भी असमंजस बना हुआ है। डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने अपने शोध प्रबन्ध 'स्वाधीनता के बाद हिन्दी पत्रकारिता का विकास' में 'नवचित्रपट' (दिल्ली-1932) को पहली हिन्दी पत्रिका माना है जबकि श्री राजकुमार

जैन ने 'मध्यभारत की हिन्दी पत्रकारिता' निबंध में इन्दौर से 1931 में प्रकाशित 'मंच' को हिन्दी की प्रथम फिल्म पत्रिका माना है। वर्ष 1936 में प्रसिद्ध साहित्यकार श्री ऋषभचरण जैन ने दिल्ली में 'चित्रपट' साप्ताहिक निकाला जिसके गम्भीर कलेवर तथा साहित्यिक पुट के कारण इसे जैनेन्द्र कुमार जैन, मुंशी प्रेमचन्द, बेचैन शर्मा 'उग्र', नरोत्तम व्यास, विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' आदि साहित्यकारों का भरपूर सहयोग मिला। 'चित्रपट' की बढ़ती लोकप्रियता का असर 'रंगभूमि' पर पड़ा और कुछ वर्ष बाद उसका प्रकाशन रुक गया किन्तु 1941 में मासिक पुनः आरम्भ हुआ जो अब तक जारी है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान दिल्ली से 'रसभरी', 'चित्रप्रकाश', 'कौमुदी', कलकत्ता से 'अभिनय', लाहौर से 'रूपम' पत्रिकाएं निकलती थी। 1947 में विभाजन के बाद लाहौर के पाकिस्तान में चले जाने से कई पत्रकार भारत आ गए। उनमें से कुछ ने दिल्ली से और कुछ ने बम्बई से पुरानी पत्रिकाओं को पुनः प्रारम्भ किया। 1947 में संपतलाल पुरोहित ने 'युगछाया' प्रारम्भ की और ब्रजमोहन ने 'फिल्म चित्र', जो फिल्मी कम और राजनीतिक पत्रिका अधिक थी। 1948 में राजकेसरी ने 'चित्रलेखा' निकाली। 1948 में ही ख्वाजा अहमद अब्बास ने बम्बई से 'सरगम' मासिक पत्र निकाला जिसके एक भाग में साहित्यिक और दूसरे भाग में फिल्मी सामग्री होती थी। कुछ समय बाद यह पत्रिका बन्द हो गई। अन्य पत्रिकाएं 'चित्रकार', 'कल्पना', 'शबनम' तथा 'अनुपम' निकलीं लेकिन जल्दी ही बन्द भी हो गईं।

'रंगभूमि' ने नया स्तम्भ 'फिल्मी ड्रामा' के नाम से प्रारम्भ करके प्रदर्शित फिल्मों की गीत संवाद सहित कथा देकर अपनी पाठक संख्या को व्यापक बना दिया। इस तकनीक का अनुसरण अन्य पत्रिकाओं ने भी किया और अपना सर्क्युलेशन बढ़ाया। हिन्दी पाठकों की दिनोंदिन बढ़ती लोकप्रियता के कारण उर्दू की कुछ प्रमुख पत्रिकाओं ने हिन्दी संस्करण प्रारम्भ किए। उर्दू मासिक 'शमा' ने हिन्दी में 'सुषमा' (1958) तथा उर्दू साप्ताहिक 'चित्रा' ने हिन्दी मासिक 'चित्रा' (1963) का प्रकाशन शुरु

किया। 'फिल्मी दुनियां' को सबसे अधिक बिकने वाली फिल्म पत्रिका माना जाता है। इसकी प्रसार संख्या एक लाख से भी अधिक है। हिन्दी पाक्षिक 'माधुरी (1903) प्रकाशन फिल्म पत्रकारिता के इतिहास का सुनहरी पन्ना साबित हुआ। टाइम्स ऑफ इण्डिया ग्रुप द्वारा प्राकशित इस पत्रिका के रूप में फिल्मी पत्रिका का स्वस्थ एवम् स्तरीय पक्ष उजागर हुआ। यद्यपि 'माधुरी' ने लोकप्रियता के नए कीर्तिमान स्थापित किए और अन्य पत्रिकाओं के समक्ष आदर्श प्रतिमान रखे किन्तु लोकप्रियता के चरम शिखर पहुँचने के बाद कंम्पनी की अंदरूनी समस्या के कारण इसका प्रकाशन बन्द करना पड़ा। बन्द किए जाने से पूर्व 'माधुरी' को 'फिल्मफेयर' (हिन्दी) के नाम से भी काफी समय तक प्रकाशन किया गया। यद्यपि इसे पुनः प्रकाशित करने का प्रयास अन्य प्रकाशक समूह द्वारा किया गया किन्तु प्रयास सफल नहीं हो पाया।

फिल्मी पत्रिकाओं की लोकप्रियता को देखते हुए कुछ और नए प्रकाशन निकले। जैसे राधिका (1962), फिल्मी कलियां (1965), मेनका, फिल्म रेखा, फिल्मांजली और 'फिल्मलता'। दिल्ली की पालकी (1973) में फिल्म एवम् महिला जगत की मिली जुली सामग्री दी जाती थी। 'रजनीगंधा' (1975) मासिक का प्रकाशन बम्बई से शुरु हुआ। इण्डियन एक्सप्रेस ग्रुप ने भी 'आसपास' (1975) नामक साप्ताहिक सांस्कृतिक पत्रिका शुरु की जिसमें फिल्म सम्बन्धी काफी सामग्री दी जाती थी। 'सरिता' दिल्ली सें प्रकाशित होने वाली एक अत्यन्त लोकप्रिय पाक्षिक पत्रिका है जिसने आरम्भ से ही फिल्म समीक्ष पर जोर दिया और फिल्म के स्तर के आधार पर वर्गीकरण भी किया। 'मायापुरी' भी दिल्ली से प्रकाशित होने वाली एक लोकप्रिय हिन्दी फिल्म पत्रिका है। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' और 'धर्मयुग' जैसी विशिष्ट साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रिकाओं में भी फिल्म सम्बन्धी सामग्री नियमित रूप से छपती रही। हिन्दी की अन्य पत्रिकाओं में भी फिल्मी सामग्री छपती रही है जिनमें, 'इण्डिया टुडे', 'माया', 'मनोरमा', 'गृहलक्ष्मी', 'गृहशोभा', 'सहेली', 'रविवार', 'दिनमान', 'चौथी' दुनिया' मुख्य हैं। समाचार पत्र भी इसमें पीछे नहीं रहे और

आज हम देखते हैं कि सभी प्रमुख दैनिकों - नवभारत टाइम्स, 'नई दुनिया', दैनिक जागरण', 'पंजाब केसरी', 'हिन्दुस्तान', 'दैनिक भास्कर', 'राजस्थान पत्रिका', 'विश्वामित्र' आदि में फिल्मी स्तम्भ दिए जाते हैं। हिन्दी फिल्मों के विज्ञापन तो लगभग सभी भाषाओं के समाचार पत्रों में देखने को मिल जाते हैं। 'नवभारत' तो प्रति सप्ताह' 'ग्लैमर' नामसे एक पूर्ति भी निकालता है और इसके अलावा प्रति वर्ष फिल्म सम्बन्धी पुरस्कार भी दिए जाते हैं। इन सबके पीछे निश्चित रूप से पाठकों की फिल्मों के बारे में अधिकाधिक जानने की जिज्ञासा है। फिल्मों के सफल या असफल होने में इन पत्रिकाओं की भी अहम् भूमिका होती है। फिल्मों की लोकप्रियता को सातवें आसमान पर पहुँचाने वाली पत्र पत्रिकाएं होती हैं जो लोगों की फिल्मों के प्रति उत्सुकता को जगाती भी हैं और उनकी जिज्ञासा को शांत भी करती हैं।

जिस प्रकार फिल्मों में रंगीन तत्व जितना प्रभावशाली रूप ग्रहण कर चुका है, फिल्मी पत्रिकाओं में भी रंगों का प्रभाव उतना ही है। फिल्म पत्रिकाओं पर फिल्मों के विज्ञापन का प्रभाव, उस पत्रिका की आर्थिक स्थिति पर निर्भर है। दूसरी ओर निष्पक्ष फिल्म समीक्षाओं का फिल्म के चलने न चलने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि उन्हें इनकी परवाह भी नहीं होती। हिन्दी फिल्में जिन मसालों, लटके-झटकों के लिए जिस तरह बदनाम है उसी प्रकार फिल्म पत्रकारिता में भी पीत पत्रकारिता के दर्शन अधिक होते हैं और गपशप अफवाहों व सनसनीखेज समाचारों पर अधिक जोर पाया जाता है। सामग्री के नाम पर केवल कुछ रंगीन चित्र, कुछ चटपटे लेख, कहानी, फिल्म ड्रामा, कलाकारों से साक्षात्कार और कुछ फिल्मी समाचारों को मिलाकर पत्रिका पूरी हो जाती है। इसके बावजूद फिल्मी चमकदमक के कारण इन पत्रिकाओं की बिक्री साहित्यिक पत्रिकाओं की तुलना में काफी अधिक है। यहाँ स्तर व गुणवत्ता की कोई गुंजाइश नहीं। मसाला युक्त सामग्री कितनी चटपटी है, यही इसकी लोकप्रियता का आधार है। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि फिल्मी पत्रिकाएं भी फिल्मों के समान 'ग्लैमर' में विश्वास रखती हैं क्योंकि उनकी बिक्री का वही मुख्य

कारण भी है।

फिल्म पत्रकारिता का उदय लगभग 70 वर्ष पूर्व हुआ। प्रारम्भ में फिल्म पत्रकारिता का मूल उद्देश्य तो यह था कि जनता को फिल्म क्षेत्र की विभिन्न गतिविधियों का ज्ञान कराए तथा फिल्म की समीक्षा करके जनता को उनकी मनोरंजन की आवश्यकता की पूर्ति करने हेतु मार्गदर्शन प्रदान करे। किन्तु फिल्मों ने जैसे एक स्वतंत्र व्यवसाय का रूप धारण कर लिया है वैसे ही फिल्मी पत्रकारिता भी पूर्णतः व्यवसायी बन चुकी है। फिल्मों के अतिरिक्त दूरदर्शन, वीडियो का भी व्यावसायिक विकास होता जा रहा है और उनकी लोकप्रियता का आधार मुख्य रूप से फिल्में ही हैं। ऐसे में फिल्म पत्रकारिता एक स्वतंत्र व्यवसाय बन चुका है और जिस प्रकार फिल्मों व दूरदर्शन का फैलाव गांव-गांव और शहर की गली-गली में देखने को मिलता है उसी प्रकार फिल्मी पत्रिकाओं का व्यवसाय भी देश के सुदूर इलाकों तक फैल गया है। फिल्मों से सम्बन्धित कूड़ा साहित्य भी हाथों हाथ बिंक जाता है और दुनियाभर में पढ़ा जाता है। मतलब यह कि फिल्म से सम्बन्धित चाहे जैसी पाठ्य सामग्री हो-स्तरीय या निम्नस्तरीय-उसका पढ़ा जाना निश्चित है। संचार व इलेक्ट्रोनिकी क्षेत्र में रोजाना नए-नए आविष्कार हो रहे हैं, कम्प्यूटर क्रांति का भी तेजी से फैलाव हो रहा है। दूरदर्शन, वी.सी.आर., वीडियो डिस्क, टेलीफिल्म, विडियो फिल्म, विज्ञापन फिल्म आदि का जाल भी फिल्मों में ही आ रही तकनीकी क्रांति के साथ-साथ फैलता जा रहा है। ऐसी स्थिति में फिल्मी पत्रकारिता का भविष्य काफी उज्ज्वल है। जहाँ तक हिन्दी के प्रचार-प्रसार में इसके योगदान का सम्बन्ध है, हिन्दी फिल्म पत्रकारिता ने हिन्दी फिल्मों के समान ही देश की करोड़ों जनता को आकर्षित किया हुआ है, फलस्वरूप हिन्दी फिल्म पत्रकारिता का हिन्दी प्रसार में योगदान उल्लेखनीय है।